पाश्चात्य दर्शन का इतिहास

आधुनिक युग

M.A. D.Phil.

शशधर दत्त, एम० ए०, डी० फिल०

अध्यापक दर्शनशास्त्र, प्रयाग विश्वविद्यालय

४४, जॉन्स्टनगंज

इलाहाबाद-३

प्रयाग विश्वविद्यालय दर्शन-विभाग के अध्यक्ष

श्री अनुकूलचन्द्र मुखोपाध्याय

श्रद्धास्पदेषु

भूमिका

मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उसके विचार और कल्पना की सार्थकता का ही इतिहास है। उस सार्थकता का परिचय हमें दर्शन में मिलता है। भारतीय भाषा के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति के मूलतत्वों का परिचय होने पर ही प्राच्य और पाश्चात्य की संस्कृतियों का समन्वय सम्भव है। इसलिये भारतीय भाषा में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की विशेष आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही हिन्दी में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास की रचना की गई है।

इस रचना में विषय-वस्तु को सहजबोध्य करने की ओर विशेष दृष्टि रखी गई है। हिन्दी भाषा के अंग पर कील ठोंक कर पारिभाषिक शब्द लगाने की चेष्टा न कर उसके निजी प्राण-स्पन्दन के द्वारा ही पाश्चात्य विचार-सम्पद को प्रकाशित करने की चेष्टा मैंने की है। पाठक के मन के साथ विचारधारा के क्रम-परिचय के मार्ग में सहसा आगन्तुक शब्दों की उग्रता कोई बाधा की सृष्टि न कर सके, इस पर भी मैंने विशेष ध्यान दिया है। जहां पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है, वहां वैसा ही किया गया है। सर्वजनग्राह्य पारिभाषिक शब्दों की सृष्टि अभी नहीं हो सकी है, इसलिये शब्दों के चुनने में पसन्द और नापसन्द का प्रश्न अवश्य रह जाता है। अनेक क्षेत्रों में नवीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग में शब्दों के मूल अर्थों पर ही एकमात्र दृष्टि न रखकर, साहित्य के जीवन-प्रवाह में परिपुष्ट शब्दों का जो अर्थ

हमारे विचारों को रूप देता है, उस पर भी दृष्टि रखी गई है। सम्भव है कि इस पुस्तक में प्रयुक्त अनेक शब्द अनुमोदित न हों, परन्तु यदि सर्वानुमोदित शब्दकोष की प्रतीक्षा में रचना को स्थगित रखा जाय, तो भारतीय भाषा में दार्शनिक साहित्य का निर्माण कभी सम्भव ही न होगा।

परन्तु सरल बनाने के हेतु दर्शन के इस इतिहास की विषय-वस्तु को छिछला नहीं रखा गया है। जिससे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को उनके पाठ्य का आवश्यकीय उपकरण इससे मिल सके, और साधारण शिक्षित व्यक्ति को भी इसका पाठ कर निराश न होना पड़े, दोनों की चेष्टा की गई है। यदि इस चेष्टा में कुछ सफलता मिली तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

यह कहना बाहुल्य मात्र होगा कि इस दर्शन के इतिहास में सब दार्शनिकों के समग्र तथ्यों को एकत्रित कर कोई विराट् ग्रन्थ लिखने की चेष्टा मैंने नहीं की है। पाश्चात्य दर्शन के इस प्रकार के पूर्णांग इतिहास की हिन्दी में रचना इसके बाद कोई योग्यतर व्यक्ति करेंगे। अपने उद्देश्य के लिये जिन दार्शनिकों को मैंने प्रधान समझा है और उनके उन विचारों को, प्रथम-परिचय के लिये जिनको मैंने आवश्यक समझा है, ग्रहण कर, बाकी का परित्याग करना पड़ा है। प्रत्येक दार्शनिक के मतों की आलोचना करने के पहिले उनका जीवन-वृत्तान्त भी संक्षेप में लिपिबद्ध किया गया है। अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी इस वृत्तान्त को एक शुष्क जीवनी का रूप न देकर, उसमें उनके व्यक्तित्व को रूप देने की चेष्टा मैंने की है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास के किसी विशेष ग्रन्थ पर यह रचना

अवलम्बित नहीं है। इसमें सभी प्रचलित ग्रन्थों से तथ्य संग्रह किये गये हैं। ऐसे इतिहास की पुस्तक में निजी कोई चीज देनी नहीं है; इसलिये ग्रन्थकार का ऋण इतना व्यापक है कि उसका कोई विशेष निर्देश सम्भव नहीं; परन्तु स्थान-स्थान पर यदि पाठक को किसी विशेष दृष्टिकोण पर आधारित कोई अभिमत दीख पड़े, तो वह ग्रन्थकार का अपना है और उसकी जिम्मेदारी भी ग्रन्थकार की ही है। पुस्तक की भाषा पर अपना अभिमत प्रकट करने के लिये तथा उत्साह प्रदान करने के लिये, प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर श्री धीरेन्द्र वर्मा का ग्रन्थकार विशेष रूप से आभारी है।

पाश्चात्य दर्शन के इस इतिहास को तीन खण्डों में प्रकाशित करने की मेरी इच्छा है। इसके प्रथम खण्ड में प्राचीन तथा मध्ययुग का समावेश होगा, दूसरे खण्ड में आधुनिक युग का और तीसरे खण्ड में समसामयिक युग का समावेश होगा। पाठ्य पुस्तक के लिये अधिक आवश्यकीय होने के कारण दूसरे खण्ड को पहिले प्रकाशित किया जा रहा है। बाकी खण्डों को शीघ्र ही मुद्रणालय में भेजा जायगा।

विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि पुस्तक के सम्बन्ध में अपना अभिमत भेजकर तथा त्रुटियों को ज्ञात कराकर ग्रन्थकार को कृतज्ञ करें।

अन्त में मैं इस पुस्तक के प्रकाशन का भार ग्रहण करने के लिये कलकत्ते के सुप्रसिद्ध बुकलैण्ड लिमिटेड के अधिकारियों को भी धन्यवाद देता हूं।

दर्शन-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

—शशधर दत्त

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ

आधुन्कि युग

पहिला अध्याय

प्रारम्भिक

सुविधा के लिये मानव-सभ्यता के इतिहास को चार भागों म विभक्त किया गया है---पहिला प्राचीन युग, दूसरा मध्ययुग, तीसरा आधुनिक युग और चौथा सम सामयिक युग। प्रत्येक युग की अपनी एक विशेषता है और उस युग की दार्शनिक विचारधारा में उस विशेषता ने रूप ग्रहण किया है।

पाश्चात्य दर्शन का प्राचीन युग है, यूनानी दर्शन। शिव और सुन्दर, ये दोनों तत्व यूनानी दार्शनिक विचारधारा के प्राणस्वरूप हैं। इस युग के दर्शन की एक और विशेषता यह है कि दर्शन के एक-एक विद्यापीठ को केन्द्रित कर इसका प्रसार हुआ है। अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा दार्शनिक विचार की विभिन्न धाराएं विकसित हुई हैं। केवल यही नहीं, मानव-जीवन के सम्बन्ध में यूनान की धारणा और यूनानी जाति का स्वरूप, दोनों यूनानी दर्शन में मूर्त हैं।

मध्ययुग का पाश्चात्य दर्शन मुख्यतः धर्मानुशासन मात्र था। गिरजों के निर्देश और धर्मयाजकों की शास्त्र-व्याख्या ने ही दर्शन का स्थान ले

लिया था। मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का अप्रतिहत शासन था औ विश्वास तथा परम्परा ने मानव-बुद्धि को जकड़ रखा था। स्वतन्त्र विचार का कोई स्थान न था, बल्कि उसको नास्तिकता का लक्षण समझा जाता था। इस युग में दार्शनिक विचार का अस्तित्व नहीं था, ऐसा नहीं, परन्तु वास्तविक दर्शन की सृष्टि इस युग में नहीं हुई। क्योंकि बिना स्वतन्त्र विचार के दर्शन का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त मध्य-युग का यह दर्शन कुछ धर्मयाजकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी; इसमें न तो समाज-जीवन के सुख-दुःख की समस्याओं की बात थी और न यह जातीय मनोभावों को ही व्यक्त करता था। कुछ बनावटी समस्याओं को लेकर, लेखनी-युद्ध के अनावश्यक प्राचुर्य ने इस युग की विचारशक्ति को पंगु बना रखा था। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य के मन में एक निराशा और उदासीनता की भावना छा गई। केवल न्यायशास्त्र के तर्क से मनुष्य की आशा और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। जो तत्व मनुष्य के आन्तरिक सम्पद का कोई समाचार नहीं दे पाता, वह तत्व नहीं, एक मिथ्या वाक्जाल मात्र है। इसलिये इस निराशा और उदासीनता के बीच होकर मनुष्य ने पृथ्वी को एक नयी दृष्टि से देखना सीखा और उसके अन्तर्जीवन के द्वन्द्व और बहिर्प्रकृति के अनन्त रहस्य ने उसके जीवन में एक नव-चेतना का संचार किया।

इतिहास के तीन विशिष्ट आन्दोलनों के बीच इस मानव-चेतना ने आत्म-प्रकाश किया। पहिले ही कहा जा चुका है कि मध्ययुगीन पाश्चात्य विचार-धारा में साहित्य या दर्शन का जीवन के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था; परन्तु प्राचीन अथवा यूनानी साहित्य और दर्शन ने जीवन को केन्द्रित कर ही कल्याण और सुन्दर की आराधना की थी। इसलिये मनुष्य में यूनानी संस्कृति

के साक्षात्कार की इच्छा पैदा हुई। दूसरी ओर इस विचार-स्वतन्त्रता ने धर्म-जीवन में भी मानसिक मुक्ति का दावा किया। जो समाज व्यवस्था, धर्मशास्त्र और धर्म-विश्वास पर आश्रित थी, मनुष्य ने अब उसको अनुभव और युक्ति के कसौटी पर जांचना चाहा। इसके अतिरिक्त बहिर्प्रकृति के साथ नित्य नवीन परिचय ने मनुष्य में एक आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा की और उसके फलस्वरूप, जल, स्थल और आकाश में जो नये-नये आविष्कार हुए उन्होंने पृथ्वी के सम्बन्ध में इतने दिनों के ज्ञान और धारणा की भित्ति को ही हिला दिया। गणित, ज्योतिष, भूगोल, शरीर-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान प्रभृति विषयों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों में प्रथम स्थान प्राप्त है कोपरनिकस के मतवाद को, जिन्होंने बताया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। ईसाई धर्म के अनुसार यही मत प्रचलित था कि सूर्य तथा अन्यान्य ग्रह पृथ्वी को केन्द्रित कर आकाश में प्रदक्षिणा करते हैं। कोपरनिकस के नवीन मतवाद ने मनुष्य की अभिज्ञता और उसके धर्म-विश्वास के बीच एक द्वन्द्व की सृष्टि की। इस द्वन्द्व में धर्म-विश्वास की पराजय हुई और विजयी मानव-अभिज्ञता ने नाना प्रकार के आधुनिक विज्ञानों को जन्म दिया।

इसलिये हम देखते हैं कि दो विपरीतमुखी युगधर्मों को आश्रित कर, पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का आरम्भ हुआ—गिरजानुशासन का क्रमविलोप और नवविज्ञान का क्रमवर्द्धनशील प्रभाव। इस युग की प्रकृति है, वैज्ञानिक मनोवृत्ति, व्यक्तिचेतनता तथा अन्तर्जातीयता। आधुनिक युग के पाश्चात्य दर्शन में भी यह युग-धर्म प्रतिबिम्बित है। जीवन की समस्याओं के वास्तविक समाधान के लिये अन्धविश्वास का परित्याग कर स्वतन्त्र विचार

का आश्रय लेना पड़ता है । इसलिये एक ऐसी दर्शन-पद्धति की आवश्यकता हुई, जिसके द्वारा निश्चयपूर्वक सत्य का आविष्कार किया जा सके ।

आधुनिक दर्शन की सूचना

इस स्वतन्त्र-विचार और आत्मविश्वास से अनुप्राणित होकर यूरोप के विभिन्न देशों के कुछ मनीषियों ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की नींव डाली। इनमें प्रधान थे---इटली के ब्रूनो, इंगलैंड के बेकन तथा हाब्स, और फ़ांस के देकार्ते ।

गिओर्डानो ब्रूनो (Giordano Bruno 1548-1600)

[इटली में नेपल्स नगर के निकट लोला नामक स्थान में सन् १५४८ ई० में ब्रूनो का जन्म हुआ। असाधारण सत्यनिष्ठा और सत्य की व्याकुल जिज्ञासा ब्रूनो के चरित्र की विशिष्ठताएं हैं । अभिभावकों की इच्छा से चौदह वर्ष की अवस्था में ब्रूनो को धर्मयाजक का पेशा ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत होना पड़ा । परन्तु इसी बीच नव-विज्ञान की वार्ता उनके मर्मस्थल तक पहुंच चुकी थी और मध्ययुगीन धर्मविश्वास के प्रति उनके अन्दर एक विराग की भावना पैदा हो गई थी । बिना किसी कुण्ठा के वह अपने मत का प्रचार करने लगे । प्रचलित धर्म के विरोधी मत-प्रचार के कारण और फलस्वरूप उनको एक नगर से विताड़ित होकर दूसरे नगर तथा इसी प्रकार नगर-नगर घूमकर जीवन बिताना पड़ा । कहीं तो छोटे-छोटे लड़कों की अध्यापकी कर और कहीं छापेखाने में काम कर ब्रूनो को जीविका-निर्वाह करना पड़ा। इस समय अपने पाण्डित्य की ख्याति के कारण पैरिस, ऑक्सफौर्ड, विटेनवर्ग

आदि विश्वविद्यालयों में अध्यापन का सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ था और फ्रांस के सम्राट् तृतीय हेनरी और इंग्लैंड की सम्राज्ञी एलिजाबेथ की सभाओं में भी वे निमन्त्रित किये गये थे, परन्तु अपने नवीन मतवाद के कारण प्रत्येक जगह उन्हें छोड़ना पड़ा। इसके बाद वेनिस शहर को प्रत्यागमन करने पर वह वहां बन्दी किये गये और ईसाई धर्ममत के विरुद्ध प्रचार करने के कारण १६०० ई० में रोम नगरी में उन्हें जिन्दा जलाया गया।]

प्रचलित ईसाई धर्म के अनुसार छः हजार वर्ष पहले ईश्वर ने इस पृथ्वी की सृष्टि की थी, और सृष्टिकर्त्ता के बैठने का सिंहासन था महाशून्य में यरूशलम के ठीक ऊपर। इस मत के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और उसको केन्द्रित कर सूर्य, चन्द्र और तारागण आकाश में प्रदक्षिणा करते है। सौरकेन्द्रिक जगत का कोपरनिकस का नया मत तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने ब्रूनो की मनोवृत्ति को एक वैज्ञानिक सांचे में ढाल दिया था, और इसलिये प्रचलित धर्ममत को ग्रहण करने में असमर्थ होकर उन्होंने वैज्ञानिक सत्य और धर्ममत के बीच एक समन्वय और संगति की चेष्टा की। जिस नियम को आश्रित कर प्रकृति की असंख्य घटनाएं घटित हो रही हैं और जिसके आधार पर मनुष्य उनकी व्याख्या करने में समर्थ हैं, धर्म और दर्शन की व्याख्या में भी उस नियम के साथ संगति होनी चाहिये। ब्रूनो ने यही चेष्टा की।

ब्रूनो ने कहा कि जैसे विज्ञान की दृष्टि में जगत की सीमा का निर्देश करना असम्भव है, उसी प्रकार दार्शनिक की दृष्टि से ईश्वर की सीमा का निर्देश करना भी असम्भव है। ईश्वर अनन्त है और विश्व भी अनन्त है। ब्रूनो के मतानुसार धर्मशास्त्रों में सृष्टिकर्त्ता से जो बोध होता है, ईश्वर उस प्रकार के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। अर्थात् सृष्टि के बाहर रहकर किसी विशे

समय पर सृष्टिकर्त्ता ने इस सृष्टि की रचना नहीं की है। ईश्वर विश्वशक्ति के प्राणकेन्द्र स्वरूप हैं। इसी ईश्वरीय शक्ति को आश्रित कर विश्व बहु दिशाओं में प्रकाशमान है। ईश्वर जीव-जगत के बाहर नहीं, ईश्वर के भीतर ही जीव-जगत की स्थिति, गति तथा परिणति है। इसलिये विश्व के सब कुछ में ईश्वर विराजमान हैं और ईश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु है। इसको सर्वेश्वरवाद कहा जा सकता है।

परन्तु दूसरी ओर ब्रूनो ने जगत की अनेक और विचित्र वस्तुओं की बहुलता और विचित्रता की व्याख्या करने की भी चेष्टा की है। यदि ईश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु है, तो इन विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति कैसे हुई और प्रत्येक पदार्थ ने अपनी-अपनी विशिष्ठता की रक्षा किस प्रकार की। अर्थात् यह निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा कि बहु के साथ एक का कुछ संबंध है। इस समस्या का विचार कर ही ब्रूनो ने कहा कि यह विश्व असंख्य पृथक् पदार्थों से बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से भिन्न है। एक से दूसरे की उत्पत्ति या एक की दूसरे में परिणति सम्भव नहीं है। ये असंख्य परम पदार्थ (Ultimate Entities) एक साथ जड़ और चेतन दोनों ही हैं। ब्रूनो ने इनका नाम दिया है चेतन परमाणु (Monads)। जड़-जगत, उद्भिज-जगत तथा प्राणी-जगत सभी इन चेतन परमाणुओं के द्वारा संगठित हैं। इसके अतिरिक्त ब्रूनो के मतानुसार यावतीय पदार्थ ईश्वर में निहित है। ब्रूनो ने एक के साथ बहु के सम्बन्ध को स्वीकृत कर लिया है, और इस सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिये कहा है कि प्रत्येक चेतन परमाणु अपनी विशिष्ठता को रखकर अपने से बड़े चेतन परमाणु के अन्दर अपनी जगह बना लेता है। यह कहना अनावश्यक है कि इस क्रम को स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त चेतन

परमाणुओं के पृथकत्व और परमत्व की रक्षा सम्भव नहीं। परन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ब्रूनो कोई युक्ति-सिद्ध सम्पूर्णांग दर्शन की रचना नहीं कर गये हैं, उन्होंने केवल इसकी भित्ति की स्थापना की है।

पठनीय

A History of Philosophy—Thilly.
A Students' History of Philosophy—A. K. Rogers.
Giordano Bruno--Mc Intyre.

फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon 1561-1626)

[बेकन का जन्म सन् १५६१ ई० में लन्दन शहर में हुआ था। केम्ब्रिज के ट्रिनीटी कालेज में प्रवेश कर तीन वर्ष अध्ययन करने के बाद, पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-पद्धति के प्रति बेकन की अश्रद्धा हो गई। उसी समय उनके मन में यह बात आई कि शब्दों को लेकर निरर्थक तर्क करने से दर्शनशास्त्र की उन्नति की कोई सम्भावना नहीं। जब तक मनुष्य का मन ज्ञान से आलोकित नहीं होगा, तब तक दर्शन की कोई सार्थकता नहीं है। अठारह वर्ष की आयु में पितृहीन होकर बेकन को दरिद्रावस्था का भोग करना पड़ा। परन्तु सहायहीन अवस्था में भी अपने अध्यवसाय और उच्चाकांक्षा के कारण वह हताश नहीं हुए। वकालत के पेशे से बेकन ने धीरे-धीरे ख्याति प्राप्त की और बाईस वर्ष की अवस्था में वह पार्लियामेंट के सदस्य हो गये। बेकन की कार्यशक्ति असाधारण थी। वह एक सुवक्ता, क्षमताशील लेखक तथा वैज्ञानिक ज्ञान-विस्तार के पथ-प्रदर्शक थे। उनके पाण्डित्य और कार्य-

दक्षता ने उनको उन्नति के ऊंचे शिखर पर पहुंचाया। वह पहले एटर्नी-जेनरल, फिर लार्ड चान्सलर और व्हाई काउन्ट हुए।

कर्म दक्ष और पण्डित तो बेकन थे, परन्तु उनका नैतिक जीवन प्रशंसनीय न था। अपव्यय और अर्थलिप्सा उनके चरित्र के कलंक स्वरूप हैं। परन्तु जीवन के अन्त तक वह ज्ञानान्वेषण में, और किस प्रकार से मानव-कल्याण के हित में इस ज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है, इस प्रयास में लगे हुए थे। विज्ञान के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी की स्थापना में उनकी चेष्टा का एक मुख्य स्थान है। सन् १६२६ ई० में बेकन की मृत्यु हुई।]

बेकन के मतानुसार दर्शनशास्त्र से मनुष्य ने जो आशा की थी, वह आशा उसकी पूरी नहीं हुई। वास्तवहीन शब्द-संयोग से दर्शन की सम्पद-वृद्धि नहीं होती। दर्शन का मूल उद्देश्य है, मानवसमाज का कल्याण साधन। प्राकृतिक नियमों के रहस्यों का आविष्कार कर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व करना होगा। प्राकृतिक आविष्कार का प्रयोग मानव समृद्धि के सहायक के रूप में करना होगा, परन्तु पुरातन दर्शन-पद्धति से यह सम्भव नहीं; इसके लिये नवीन पद्धति की आवश्यकता है।

इस नई पद्धति का मूल-तत्व यह है कि अनुमान के ऊपर निर्भर रहकर वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। चूंकि धर्म पुस्तक में यह लिखित है, या किसी प्रभावशाली व्यक्ति ने यह कहा है, इसलिये यह सत्य है—यह युक्ति यथार्थ युक्ति नहीं है, यह अंधविश्वास का ही दूसरा नाम है। बेकन के मतानुसार ज्ञान-संचय का प्रथम सोपान है प्रत्यक्षानुभूति। इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा करने के बाद ही किसी वस्तु को सत्य माना जाना चाहिये। काल्पनिक भित्ति पर सत्य की प्रतिष्ठा असम्भव है। जो इन्द्रियगोचर

नहीं है, वही काल्पनिक है। दर्शन यदि सत्य का अनुसन्धान करना चाहे तो उसे वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेना होगा। हमारा ज्ञान नाना प्रकार के संस्कारों से आच्छन्न है, इसलिये सत्य का स्वरूप हम जान नहीं पाते। पूर्ववर्ती दार्शनिकों की विचारधारा संस्काराच्छन्न होने के कारण सत्य का ज्ञान नहीं हो सका है, हमें केवल उसके विकृत रूप का ही परिचय मिला है। इसलिये दार्शनिकों को संस्कार-मुक्त रहना पड़ेगा।

बेकन के मतानुसार ये संस्कार चार प्रकार के हैं, जिनको उन्होंने विकृति (Idols) का नाम दिया है।

पहिली है "मानवीय विकृति" (Idols of the Tribe); मनुष्य मात्र के मन में कुछ सहजात संस्कार हैं। यह मानव-मन का साधारण धर्म है। इस संस्कार के कारण सत्यानुसंधान के पहिले ही मनुष्य सत्य के स्वरूप का निश्चय कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो सत्य है, उसे हम देख नहीं पाते; जो हम देखना चाहते हैं, उसी को हम देखते हैं।

दूसरी है "व्यक्तिगत विकृति" (Idols of the Cave)। प्रत्येक मनुष्य के कुछ निजी संस्कार हैं; ये उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति में शामिल हैं। व्यक्ति विशेष का स्वभाव संगठन और उसका सामाजिक परिवेष्टन उसके संस्कारों के उत्पत्ति स्थल हैं। ये ही कूपमण्डूकता की सृष्टि करते हैं।

तीसरी है "व्यवहारगत विकृति" (Idols of the Market Place)। अपनी भाषा में हम जिन शब्दों का व्यवहार करते हैं, वे सबके सब बिलकुल ठीक अर्थ को ज्ञापित करते हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु बिलकुल ठीक न होने पर भी बहुजन-गृहीत होने के कारण वे स्थायी बन गये हैं।

जब हम किसी भाव को यथोचित् भाषा के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, तो वे ही शब्द विकृत अर्थ के कारण बन जाते हैं।

चौथी है "परिकल्पित विकृति" (Idols of the Theatre)। पुराकाल से कुछ परिकल्पित दार्शनिक सिद्धान्तों को हम सत्य मानते चले आ रहे हैं। विचार या विश्लेषण की कसौटी पर हमने इनकी जांच नहीं की है। जांच करने पर इनकी विकृति का पता लग जायगा।

बेकन के अनुसार मन को उपरोक्त संस्कारों से मुक्त करने के बाद ही सत्य का अन्वेषण करना चाहिये, नहीं तो सत्य पर तो आवरण पड़ जायगा, और मिथ्या तथा भ्रान्ति ही हमारे ज्ञान के उपादान बन जायँगे। इसके अनन्तर बेकन ने ज्ञानार्जन की वैज्ञानिक पद्धति का निर्देश किया है। इस पद्धति की मूल बात है पर्यवेक्षण। इस पर्यवेक्षण की कई सीढ़ियां हैं। पहले पर्यवेक्षित घटनाओं को एकत्रित करना होगा। उसके बाद उनका तुलनात्मक विश्लेषण करना होगा। इन पर्यवेक्षित घटनाओं को ज्यों-त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता है। उपयुक्त परीक्षा के बाद ही इनको ग्रहण किया जा सकता है। इस पर्यवेक्षण के लिये केवल इन्द्रियों पर निर्भर रहने से काम न चलेगा, यन्त्रादि की सहायता भी लेनी होगी। कारण यह है कि हमारी इन्द्रियां सब समय ठीक-ठीक काम नहीं करतीं और ग्रहण करने की इनकी क्षमता भी सीमित है। बेकन के मतानुसार प्रकृति के प्रत्येक गुण के पीछे अवश्य ही कोई न कोई मूल नियम या कारण है और यदि इस मौलिक तत्व का आविष्कार किया जा सके तो उस वस्तु या गुण के स्वरूप को हम जान सकते हैं। इस प्रकार घटना विशेषों का प्रत्यक्षीकरण और उनकी विशिष्टताओं से परिचित होने पर हमें यह देखना होगा कि वे घटनाएं किसी विशेष नियम

पठनीय

लाइबनिट्स लिखित :—The Monadology and other writings—Translated by R. Latta (with commentary).

The Monadology of Leibniz —By H. W. Carr.

The Philosophical Writing of Leibniz—By Mary Morris (Everyman).

सहज-प्रवेशिका :—Leibniz—J. T. Merz.

आलोचनात्मक :—A Critical Exposition of the Philosophy of Leibniz—B. Russell.

Leibniz—H. W. Carr.

The Dawn of Modern Thought —S. H. Mellone.

दूसरा अध्याय

अनुभववाद (Empiricism)

हमने यह देखा कि स्वतन्त्र विचार की विजयपताका लेकर पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का आरम्भ हुआ। मनुष्य की यह धारणा हुई कि उसके बुद्धि और बल से विश्व के सब रहस्यों का उद्घाटन हो जायगा। देकार्ते, स्पिनोजा, लाइबनिट्स आदि की विचारधाराओं में मनुष्य के बुद्धि-विचार के प्रति सम्पूर्ण आस्था है। परन्तु समय के साथ यह उत्साह घटने लगा। मनुष्य के मन में यह धारणा हुई कि परम तत्व को जानना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। सम्भवतः इसका जानना सम्भव भी न हो। परन्तु हमारे निकट के सत्य की उपेक्षा क्यों करें? यह निकट का सत्य मनुष्य स्वयं है। कल्पना के कोहरे में सारे विश्व की प्रदक्षिणा न कर इन्द्रिय-पथ पर अभिज्ञता के उज्ज्वल आलोक में मनुष्य के स्वरूप को पहचानने की चेष्टा करना ही हमारा कर्तव्य है। इसलिये योरोप में प्रवर्तित हुआ एक व्यक्ति-सचेतनता का युग। समाज, राष्ट्र, धर्म, दर्शन, विज्ञान और अर्थनीति—जीवन के सभी क्षेत्रों में मानवीय अधिकारों की मांग ने एक प्रधान स्थान लिया। योरोपीय संस्कृति के इस नवीन आलोक में दर्शन में भी एक नवीन धारा ने जन्म लिया। इस नवीन धारा का नाम है, अनुभववाद (Empiricism)।

जॉन लॉक (John Locke 1632–1704)

[इंग्लैंड के एक गृहस्थ परिवार में १६३२ ई० में लॉक का जन्म हुआ। थोड़ी उम्र में मातृहीन होकर लॉक अपने पिता की नियमानुवर्तिता में पले।

अध्यवसाय, आत्मनिर्भरता और स्वातंत्र्यप्रियता उनके चरित्र की विशिष्टता थी। लन्दन के वेस्टमिनिस्टर तथा ऑक्सफोर्ड के क्राइस्टचर्च कॉलेज में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। साहित्य, रसायन, पदार्थ-विद्या, चिकित्सा-विज्ञान आदि उनके अध्ययन के विषय थे। ऑक्सफोर्ड में वह अध्यापक नियुक्त हुए थे और अवसर काल में वह चिकित्सक का काम भी करते थे। एक बार उन्होंने अपनी चिकित्सा से लार्ड ऐशली को रोगमुक्त किया था और इस कारण लार्ड ऐशली को उन्होंने एक आजीवन मित्र के रूप में प्राप्त किया। उन्हीं की सहायता से वह शासन-विभाग के एक जिम्मेदार पद पर नियुक्त हुए। परन्तु ऐशली की मृत्यु के बाद उनको हालैंड भाग जाना पड़ा। इसी समय उन्होंने अपने विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ की रचना समाप्त की। पांच वर्ष बाद सन् १६८८ ई० में इंग्लैंड के विद्रोह के समय वह स्वदेश को लौटे। इसी बीच योरोप के एक श्रेष्ठ मनीषी के रूप में उनकी ख्याति फैली। शासन-सुधार में भी लॉक की देन कम नहीं है। १७०४ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

लॉक ने समग्र विश्व के स्वरूप को जानने की चेष्टा नहीं की। देकार्ते, स्पिनोजा और लाइबनिट्स की भांति परमतत्व के जानने की आकांक्षा उन्हें नहीं थी। परमतत्व के स्वरूप को लेकर कितना मतभेद है। हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान करने बैठकर हम किसी एक सिद्धान्त पर पहुंचते नहीं! इसलिये सत्य क्या है, यह जानने के पहिले इस विषय की मीमांसा का प्रयोजन पहिले है कि सत्य को हम किस प्रकार से जानते हैं। इसलिये लॉक का उद्देश्य है, मनुष्य के ज्ञान की उत्पत्ति, निश्चयता और उसकी सीमा के सम्बन्ध में अनुसन्धान और आलोचना करना।

ज्ञान की उत्पत्ति

लॉक के पहिले दार्शनिकों ने मान लिया था कि ज्ञान मानवमन की सह-जात सम्पदा है। इस मत के अनुसार मन जन्म के साथ ही कुछ धारणाओं को लेकर जन्म-ग्रहण करता है, और उन्हीं के ऊपर हमारे ज्ञान की बुनियाद निर्भर है। ऊपर इस सम्बन्ध में हमने आलोचना की है और लाइबनिट्स ने इसका किस प्रकार संशोधन किया, यह भी हमने देख लिया है। यह जो कुछ हो, यह मत सत्य है, इसके प्रमाणस्वरूप यह कहा गया है कि ऐसे अनेक सार्व-भौमिक या सार्विक सत्य (Universal Truth) हैं, जिनको न सिखाने पर भी मनुष्य आप से आप जानता है।

लॉक के अनुसार यह सत्य नहीं। ज्ञान मन की सहजात सम्पदा नहीं है। शिशु, मूढ़ और अशिक्षित, सार्विक सत्य के सम्बन्ध में इनका कोई ज्ञान नहीं है। मन में सहजात धारणा (Innate Idias) है, परन्तु मन उसे जानता नहीं. यह किस प्रकार सम्भव है ? मन में है, परन्तु मन के अज्ञात---इसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में मन में नहीं है। हमें ऐसा बोध होता है कि मन में पहिले से ही कुछ धारणाएं हैं, परन्तु विश्लेषण करने से यह मालूम हो जायगा कि पहिले से ही वे वर्तमान नहीं हैं। अर्थात् ये धारणाएं मन की सहजात नहीं, बल्कि आहरित हैं। यहां तक कि नीति की मूल बातें और ईश्वर सम्बन्धी धारणाएं भी सहजात नहीं हैं। इसलिये लॉक ने कहा कि जन्म काल में हमारा मन एक अलिखित सफेद कागज की नाईं होता (Tabula Rasa) है। बहिर्जगत के साथ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के बीच मन को जो परिचय प्राप्त होता है, उसी के फलस्वरूप मन असंख्य धारणाओं का सञ्चय कर लेता

जार्ज बार्कले (George Berkeley 1685-1753)

[सन् १६८५ ई० में आयरलैंड में बार्कले का जन्म हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में स्कूल की शिक्षा समाप्त कर वह डबलिन शहर के ट्रिनिटी कालेज में प्रविष्ट हुए। इस समय ही तीक्ष्ण बुद्धि, धार्मिकता और मधुर स्वभाव के लिये वह जनप्रिय हो गये थे। अपने मित्र और अनुगतों को लेकर बार्कले ने एक सभा की स्थापना की थी, जहां देकार्ते, लॉक, न्यूटन आदि के मतवादों की विशेष रूप से चर्चा होती थी। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी विख्यात दर्शन की पुस्तक की रचना की। इसके बाद लंदन आकर उस समय के विख्यात साहित्यिकों से वह परिचित हुए। यहां से वह योरोप भ्रमण को निकले। इंग्लैंड से लौटकर उन्होंने एक नवीन और महान् सभ्यता की प्रतिष्ठा का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने अमेरिका में एक कालेज की स्थापना का विचार किया। परन्तु अन्त तक यह कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। इस उपलक्ष में तीन वर्ष अमेरिका में बिताकर और अपने पुस्तकागार को येल कालेज को दान कर बार्कले लौट आये। वहाँ से लौटकर उन्होंने दक्षिण आयरलैंड के बिशप का पद ग्रहण किया। और ऊंचे पद पर आहूत होने पर भी उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। वह साधारण सरल ग्राम जीवन के पक्षपाती थे। अन्तिम अवस्था में वह ऑक्सफ़ोर्ड में निवास करने लगे। यहीं एक दिन १७५३ ई० में अपराह्न काल में स्त्री-कन्या सहित चाय पान करते समय मृत्यु ने बार्कले को घेर लिया।]

लॉक के दार्शनिक मत में हमने देखा कि हमारे ज्ञान के सब उपादान बहिर्जगत से ही आते हैं। उसमें मन की कोई देन नहीं है। परंतु यह बहिर्जगत तो

जड़-जगत है । इसलिये हमारा जो ज्ञान है, वह जड़-जगत का ही ज्ञान है और इसलिये हमारा दार्शनिक तत्व भी जड़-जगत का ही तत्व है। अतएव एकमात्र दर्शन जो संभव है, वह जड़वाद (meterialism) ही है। यह अवश्य है कि लॉक ने जड़, चैतन्य और ईश्वर तीनों को स्वीकार किया है। परन्तु साधारण विचारधारा में और शिक्षित, बुद्धिमान व्यक्तियों के मत में यह जड़वाद ही स्पष्ट हो उठा । दूसरी ओर लॉक ने अपने ज्ञानतत्व में इन्द्रिय-लब्ध तथ्यों का विश्लेषण करते हुए भी, 'पदार्थ' के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त किया है, उसमें अनुभववाद को पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया गया है। उन्होंने इसे युक्तिसम्मत परिणति की ओर जाने में ही सहायता की है। लॉक के दर्शन में जड़वाद और अपूर्ण अनुभववाद, इन दो बुनियादों पर बार्कले का दर्शन प्रतिष्ठित है ।

बार्कले के दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में उन्होंने दिखलाया है कि मन के अनभव के बाहर वास्तव जगत नाम की कोई चीज नहीं है । दूसरे भाग में उन्होंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि 'धारणा' तथा धारणा का आश्रयस्थल मन ये ही एकमात्र सत्य पदार्थ हैं। अन्तिम भाग में उन्होंने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि ईश्वर ही परम चैतन्य हैं, और हमारे मन की धारणाओं की उत्पत्ति और परिणति के मूल में वही हैं।

जड़ जगत की अवास्तविकता

जगत के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है, उसका विश्लेषण करने से हम देखते हैं कि वह कुछ धारणाओं की समष्टि है। ये धारणाएं

संवेदन (Sensation), अन्तर्दर्शन (Reflection), और स्मृति (Memory) से उत्पन्न होती हैं। इन धारणाओं के साथ है और एक वस्तु, जो धारणाओं का अनुभव करती है, जो उनको जानती है। यह है हमारा मन। मन न रहने से उन धारणाओं को हम जान नहीं सकते। धारणाएं मन की ही धारणाएं हैं; मन इनको जानता है और अपने अन्दर रखता है। इसलिये मन के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। मन न रहने से मन की धारणाओं का रहना भी सम्भव नहीं।

दूसरी ओर हम जब इसका विश्लेषण करते हैं कि जड़ पदार्थ क्या है तो हम यह देखते हैं कि जिसको हम जड़ पदार्थ कहते हैं, वह हमारे अनुभव में वाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त कुछ अनुभूति छोड़ और कुछ नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन गुणों के बीच से ही हम बाहरी जगत को जान पाते हैं। किसी वस्तु से इन गुणों को हटा लेने से उस वस्तु का वस्तुत्व ही हमारी अनुभव से अदृश्य हो जायगा। उन गुणों के द्वारा ही तो हम वस्तु को जानते हैं। जिसको देखा नहीं जा सकता, सुना नहीं जा सकता, स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसका स्वाद अथवा गन्ध नहीं है, ऐसी कोई वस्तु तो हम अपनी अनुभूति में नहीं पाते। पाना सम्भव भी नहीं। इसलिये, हम यह देखते हैं, कि गुण को छोड़कर वस्तु को जानने का कोई उपाय नहीं है। गुणों के बीच से ही जड़ पदार्थ का स्वरूप हमारे निकट प्रकाशित होता है। परन्तु उन गुणों का अनुभव करते हैं, हम मन के द्वारा। मन न रहने से उन गुणों का अस्तित्व भी हम नहीं जान सकते थे और इसलिये वस्तु को भी नहीं जान सकते थे। उदाहरणस्वरूप चीनी को ले लीजिये। यदि हम यह न जान सकें कि चीनी मीठी है या नहीं, सफेद है या नहीं; या

चूर्ण पदार्थ है या नहीं, तो हमारे ज्ञान में चीनी नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती। इन गुणों के कारण ही चीनी की चीनीत्व है, और मन है, इसीलिये उन गुणों को हम जान सकते हैं। इसलिये चीनी का चीनीत्व मन के ऊपर ही निर्भर है। बाह्येन्द्रिय के द्वारा जिस वस्तु का अस्तित्व हमारे निकट ग्राह्य है, वह मन न रहने पर न होता। अतएव किसी वस्तु का रहना न रहना मन के ऊपर निर्भर है। मन यदि जान सके, तभी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार्य है, नहीं तो नहीं (to be is to be perceived)। इसीलिये बार्कले ने कहा कि इस विश्व-संसार का समस्त वस्तु सम्पद--मन व्यतीत इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव मन-निरपेक्ष जड़-पदार्थ न है, न हो सकता है।

लॉक ने वस्तुओं के गुणों का दो प्रकार विभेद किया था--मूल-गुण तथा उपगुण। उनके अनुसार ये मूल गुण मन के ऊपर निर्भर नहीं हैं; ये वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। यह अवश्य है कि उपगुण मन ही पर निर्भर हैं। बार्कले ने दिखलाया कि मूल गुण और उपगुणों में वास्तविक पार्थक्य नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध जैसे ज्ञाता के ऊपर आश्रित हैं, वैसे ही विस्तृति, आकृति, गति आदि गुण भी ज्ञाता पर ही आश्रित हैं। आस्वादन न करने से मिष्ठता का अस्तित्व नहीं रहता। वस्तु के आकार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। दूर से देखने से हमें जो छोटा मालूम पड़ता है, वही निकट आने पर बड़ा हो जाता है। सामने से देखने से रुपया गोलाकृति दिखाई पड़ता है, परन्तु बगल से देखने पर वह अण्डे का आकार जैसा जान पड़ता है। तो क्या एक ही वस्तु बड़ा भी है और छोटा भी, गोलाकार भी है और अण्डाकार भी ? यह असम्भव है। वास्तव में मूलगुण भी इन्द्रियलब्ध हैं और ज्ञाता

के ऊपर निर्भर हैं। बार्कले ने दिखाया कि अन्य मूल गुण भी, इसी प्रकार ज्ञाता पर निर्भर हैं। इसलिये, मन के जानने के ऊपर ही सब गुण निर्भर हैं। मन को छोड़ इनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं। लॉक ने भूल से गुणों में बिभेद की सृष्टि की थी और एक अज्ञेय पदार्थ का अनुमान किया था। इस प्रकार के अज्ञेय पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है। जगत के नाम से हम नित्य जिसकी उपलब्धि करते हैं, वह सम्पूर्ण रूप से निर्भर है, हमारे अनुभव के ऊपर। 'कोई कभी जान न पाया, परन्तु ऐसी वस्तु है'—इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता, यह युक्तिग्राह्य नहीं। मन के द्वारा ही हम जगत को जानते और पहचानते हैं। मन न रहे तो जगत भी नहीं रहेगा।

अनेकों की यह धारणा हो सकती है कि बार्कले ने बहिर्जगत के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। किन्तु यह ठीक नहीं। बार्कले ने जगत के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया, परन्तु अस्वीकार यह किया है कि अनुभूति के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व है। लॉक ने गुणों के आधार-स्वरूप जिस अज्ञेय पदार्थ का उल्लेख किया है, बार्कले ने उसी को अस्वीकार किया है। हम अपनी अनुभूति में वस्तु से जो कुछ समझते हैं, वह है कुछ गुणों का समावेश मात्र। मन न रहे तो उन गुणों की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। ज्ञाता है, इसीलिये जगत है। लॉक ने पदार्थ (Matter) के अस्तित्व को मान लिया है, और यह भी कहा है कि पदार्थ कोई चीज है, परन्तु क्या, यह नहीं कह सकते। बार्कले के अनुसार यह अज्ञेय पदार्थ न कर्म कर सकता है, न विचार और न अनुभव, और न तो स्वयं ही किसी अनुभूति का गोचर है। इसलिये यह एक 'कुछ नहीं' मात्र है; ऐसी वस्तु जिसका वास्तव में ही कुछ अस्तित्व नहीं है।

चैतन्य की सत्ता

हमने देखा कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को छोड़कर हमारी अनुभूति के बाहर जड़ जगत नाम की कोई चीज नहीं है। परन्तु इससे यह खयाल हो सकता है कि मन की निरन्तर परिवर्तनशील धारणाओं को छोड़कर और कुछ हम जान नहीं सकते। बार्कले ने इसके उत्तर में कहा कि एक और विषय को हम जानते हैं। हम अपने को जानते हैं। 'मैं' और 'मेरे मन की धारणा' इन दोनों का पार्थक्य हम करते हैं। हम केवल धारणाओं का ही अनुभव नहीं करते, हम यह भी अनुभव करते हैं कि 'मेरे मन की धारणाएं' हैं। इस पार्थक्य के बोध से यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि मन का अस्तित्व है। चैतन्य की सत्ता अवश्य है। मन सक्रिय है, इसका अस्तित्व अन्य किसी अनुभूति पर निर्भर नहीं है। अनुभव और चिन्ता के बीच से ही इसका अस्तित्व है। अतएव हमारे निकट दो वस्तु सत्य हैं;—एक मन या चैतन्य, और दूसरा, 'मन की धारणा'

ईश्वर

बार्कले के अनुसार मन-निरपेक्ष जड़ जगत का अस्तित्व नहीं है। परन्तु यहां एक प्रश्न उठता है कि मन में जो निरन्तर धारणाएं उठती हैं, उनकी उत्पत्ति कहां से होती है। लॉक ने यह दिखलाया था कि मन धारणाओं का आधार मात्र है, धारणा की सृष्टि की क्षमता उसकी नहीं है। बार्कले ने भी इस मत को मान लिया है। बार्कले ने यह भी स्वीकार किया है कि धारणाएं मिथ्या नहीं हैं। इसलिये मन में इनका उदय किस प्रकार से होता है, इसकी कोई युक्तिसंगत व्याख्या तो करनी ही होगी। लॉक

के अनुसार बाह्य जड़ जगत ही इन धारणाओं की उत्पत्ति का कारण है। जड़ जगत के साथ मन के संस्पर्श से ही धारणाओं का उदय होता है। परन्तु बार्कले के अनुसार मन के बाहर जड़ जगत् नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिये धारणाएं जड़ जगत की अनुलिपि (Copies) नहीं हो सकतीं। मन यदि इन धारणाओं का सृष्टिकर्ता न हो तो यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी उत्पत्ति का कारण मन के बाहर ही है। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह 'कारण' इच्छा और विचार कर सकता है। क्योंकि अपने में यदि धारणा नहीं है तो हमारे मन में उस धारणा को कैसे वह संचालित कर सकता है? हमारे मन की धारणाएं असंख्य और विचित्र हैं। इसलिये हमारी सब धारणाओं का जो कारण है, उसकी शक्ति निश्चय ही असीम है और उसकी बुद्धि भी अनन्त है। नहीं तो असंख्य विचित्र धारणाओं को असंख्य मनों में संचालित करना सम्भव नहीं। इसके अलावा विश्व के सब मनों पर इसका प्रभुत्व है। इसलिये एक ही धारणा को एक ही समय यह असंख्य मनुष्यों के मन में संचालित कर सकता है। यह असीम शक्ति-सम्पन्न ओर अनन्त बुद्धिमय 'कारण' ईश्वर को छोड़ और कौन हो सकता है? ईश्वर ही हमारे मन की सब धारणाओं के कारण हैं। ईश्वर सृष्ट असंख्य धारणाओं की समष्टि को हम प्रकृति (Nature) कहते हैं। धारणाएं एक के बाद एक घटित होती हैं और हम उसे कहते हैं प्रकृति की नियम परम्परा। जब हम किसी व्यक्ति को बात करते सुनते हैं तो उसका अस्तित्व हम अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के बीच से ईश्वर हमसे बात करते हैं। उनके अस्तित्व को हम कैसे अस्वीकार करें? प्रकृति के नियम ईश्वर के ही नियम हैं; इस नियम के अनुसार ही वह हमारी

धारणाओं को संचालित करते हैं। सह-अवस्थान (Co-existence) और क्रमिकता (Succession) धारणाओं की परिचालना इन दोनों नियमों के अधीन है। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal Relation) नहीं है। इसलिये प्रकृति के बीच जो ईश्वर के नियम प्रगट हो रहे हैं, उनको समझने की चेष्टा ही दर्शन का चरम उद्देश्य है।

बार्कले के दर्शन में गम्भीरता से विचार करने के लायक अनेक समस्याएं हैं। बार्कले ने कहना क्या चाहा था, इसको लेकर अनेक आलोचनाओं की सृष्टि हुई है। इस जगत की असंख्य और विचित्र वस्तु समष्टि, हमारे मन की धारणा मात्र है, साधारण बुद्धि के लिये इसे स्वीकार करना सचमुच कठिन है। धारणा (Idea) से बार्कले का क्या तात्पर्य था, इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। इस 'धारणा' का अर्थ है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि इन्द्रियज अनुभूति। ये पत्र, पुष्प, आकाश, गृह, पशु, पक्षी, पुस्तक, लेखनी—ये मिथ्या हैं, ऐसा नहीं। इनका अस्तित्व है, परन्तु हमारी इन्द्रियलब्ध अनुभूति में। हमारी इन्द्रियज अनुभूति मिथ्या नहीं, इसलिये, ये भी मिथ्या नहीं। परन्तु इन्द्रियज अनुभूति या संवेदन (Sensation) की उत्पत्ति तो हमारे अन्दर ही है। तो जिस जगत को हम इन्द्रियों के द्वारा जान रहे हैं, उसकी सृष्टि हमारे अन्दर ही हो रही है। अतएव यह कहना पड़ता है कि हम जो जानते हैं, वही हमारा जगत है। इस प्रकार प्रत्येक मन का एक-एक जगत है। तो फिर जगत का सार्वभौमिकत्व न रहा। परन्तु बार्कले के अनुसार ईश्वर ने हमारे अन्दर इन्द्रियज अनुभूति की सृष्टि इस प्रकार की है कि पृथक् मनों में पृथक् जगतों की सृष्टि न होकर एक ही जगत की सृष्टि होती है। इसीलिये मनुष्यों में अनुभूति तथा ज्ञान का परस्पर

The world of ideas.

आदान-प्रदान सम्भव है। जगत एक ही है और वह है धारणा का जगत। परन्तु धारणाएं किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, वे विश्वमानव की सम्पत्ति हैं। निकट के वटवृक्ष को मैं जैसे जानता हूँ, अन्य लोग भी उसको उसी प्रकार से जानते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि सम्मुख का वट-वृक्ष क्या सचमुच है?—तो लॉक और बार्कले दोनों यही उत्तर देंगे कि वह सचमुच है। वट-वृक्ष को हम जानते हैं, उसकी कठिन शाखाओं से, उसके हरे पल्लवों से और पत्तों की मर्मर ध्वनि से। हम इसे जिस प्रकार जानते हैं, क्या उसको छोड़ वह और कुछ है, जिसे हम जान नहीं सकते? लॉक के अनुसार इसका उत्तर है कि यह "और कुछ" है, जो हमारी जानकारी के बाहर है। बार्कले के अनुसार यह हमारे ज्ञान के बाहर "और कुछ" नहीं है। इसीलिये बार्कले के दर्शन को 'आत्मगत भाववाद' (Subjective Idealism) या मानसवाद (Mentalism) कहा जाता है।

परन्तु हमारे मन में स्वभावतः एक प्रश्न उठता है। वस्तु का स्वरूप क्या है? हम जिस प्रकार उसे जानते हैं, क्या वही इसका निजी रूप है? अथवा यह कि हमारे मन और बाह्येन्द्रियों के संगठन के अनुसार हम इसको विकृत करके देखते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि हम वस्तु को पूरा पूरा देख नहीं पाते, परन्तु जितना देख पाते हैं, वह उसका वास्तविक रूप है, केवल हमारे सामने उस वस्तु का आंशिक प्रकाश मात्र है। और ऐसा भी हो सकता है कि हम वस्तु को जिस प्रकार देख रहे हैं, वह वस्तु ठीक उसी प्रकार है। इन प्रश्नों का अन्तिम उत्तर हमें आज तक नहीं मिला है। सम्भव है कि मनुष्य के लिये अन्तिम उत्तर कोई नहीं है। परन्तु इन सब समस्याओं की आलोचनाओं को लेकर ही दर्शन के इतिहास की रचना होती आई है।

बार्कले के दर्शन में बीज रूप में इन समस्याओं का अस्तित्व है, परन्तु दर्शन के इतिहास में बार्कले का स्थान इसलिये है कि उन्होंने अनुभववाद को परिणति की ओर अग्रसर किया है।

पठनीय

बार्कले लिखित :—A Treatise Concerning the Principles of Human Understanding.

Three Dialogues Between Hylas and Philonous.

Complete Works 4 Vols—Edited by A. C. Fraser.

सहज-प्रवेशिका :—Berkeley—A. C. Fraser. (Blackwood)

Helps to the Study of Berkeley—T. H. Huxley.

आलोचनात्मक :—Berkeley—G. Dawes Hicks.

The Development of Berkeley's Philosophy—G. A. Johnston.

डेविड ह्यूम (David Hume 1711-1776)

[स्कॉटलैंड के एडिनबरा शहर में १७११ ई० में ह्यूम का जन्म हुआ। वह स्कॉच जाति के थे, और एडिनबरा में ही स्कूल तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा उन्होंने प्राप्त की। परन्तु विश्वविद्यालय में वह अधिक दिनों तक न रह सके। साहित्य, दर्शन तथा इतिहास के प्रति ही उनका विशेष अनुराग था। लैटिन तथा ग्रीक भाषा भी उन्होंने सीखी थी। सामाजिकता, सहृदयता और उदारता ने उनको लोकप्रिय बनाया था। परन्तु ख्याति-प्रियता उनके चरित्र की प्रधान विशेषता थी। २३ वर्ष की अवस्था में ह्यूम ने अपने भविष्य जीवन के सम्बन्ध में निश्चय कर लिया था। अपना सारा जीवन ज्ञानचर्चा में व्यतीत करना ही उनका लक्ष्य था और यही उन्होंने किया भी। वह फ्रांस में रहने और अध्ययन करने लगे। यहीं उन्होंने दर्शन की अपनी पहिली पुस्तक (Treatise of Human Nature) की रचना की। इस समय उनकी अवस्था पूरे २५ वर्ष की भी नहीं हुई थी। इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर किसी ने यह नहीं समझा था कि यह दर्शन की एक युगान्तकारी पुस्तक है। बाद में ह्यूम ने और भी अनेक दर्शन की पुस्तकों की रचना सरल भाषा में की थी। उनका रचित इंग्लैंड का इतिहास भी उस युग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अपने समय के इंग्लैंड के शिक्षित युवकों पर ह्यूम का विशेष प्रभाव था। विख्यात अर्थशास्त्रविद् ऐडम स्मिथ तथा विख्यात ऐतिहासिक एडवर्ड गिबन पर भी उनका प्रभाव कुछ कम न था। अपने जीवन का अन्तिम काल उन्होंने एडिनबरा में बिताया। १७७६ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

डेविड ह्यूम के दर्शन ने लॉक और बार्कले की विचारधाराओं को पूर्णता प्रदान किया है। लॉक और बार्कले की दार्शनिक बुनियाद को डेविड ह्यूम ने भी ग्रहण किया था। उनका यह कहना था और यह प्रमाणित करने की भी उन्होंने चेष्टा की, कि, यदि संवेदन या इन्द्रियज अनुभूति (Sensuous Impressions) को छोड़कर हम और कुछ जान नहीं सकते तो हम अपनी अनुभूति के सब तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकते।

संवेदन और धारणा

(Sensation & idea)

ह्यूम के अनुसार प्रत्यक्ष (Perception) ही हमारे ज्ञान की बुनियाद है। इस प्रत्यक्ष की दो अवस्थाएं हैं। बाहर की किसी वस्तु से जब हमारे इन्द्रियों का संस्पर्श होता है, तब वह वस्तु अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में हमको प्रबल रूप से सचेतन करता है। इसी को कहते हैं संवेदन (Sensation, Impression)। इस संवेदन का आश्रय लेकर धारणा का जन्म होता है। अर्थात् धारणाओं के लिये वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के संस्पर्श की आवश्यकता नहीं है। वस्तु हमारे सम्मुख न रहने पर भी, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसके गुण का प्रत्यक्षीकरण न करने पर भी, मन के द्वारा हम उसकी धारणा कर सकते हैं। परन्तु धारणा (Idea) के लिये पहिले से इन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान या संवेदन (Sensation) निश्चय ही आवश्यक है। इसलिये धारणा संवेदन (Impression) का प्रतिबिम्ब मात्र है। संवेदन से वस्तु का जो परिस्फुट ज्ञान होता है, वह धारणा से नहीं होता। संवेदन की तुलना में धारणा निस्तेज और अपरिस्फुट होती है। लॉक ने प्रत्यक्षीकरण का इस प्रकार विश्लेषण नहीं किया

तथा संवेदन और धारणा के पार्थक्य का उल्लेख भी नहीं किया है। ह्यूम ने ही इस पार्थक्य का प्रथम निर्देश किया। इस पार्थक्य के कारण धारणा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यह बात भी समझ में आई कि बिना संवेदन के धारणा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इससे हम यह भी नतीजा निकालते हैं कि हमारे ज्ञान की बुनियाद, धारणा नहीं, संवेदन है। संवेदन में ही ज्ञान के सब उपादान वर्तमान हैं।

धारणाओं का परस्पर सम्बन्ध

मनुष्य के मन में कितनी ही धारणाएं उठती रहती हैं। एक के बाद एक मन में धारणाएं आती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है कि इन धारणाओं में कुछ संबंध है। इन धारणाओं में यदि कोई सम्बन्ध न होता तो धारणाएं अर्थहीन हो जातीं और प्रत्येक घटना एक आकस्मिक और असम्बद्ध घटना बन जाती और घटनाओं का कोई क्रम न रह जाता। मन की धारणाओं में जो संयोग है और एक धारणा की उत्पत्ति के तत्काल बाद दूसरी और तीसरी आदि की उत्पत्ति होती रहती है, ह्यूम के अनुसार यह आकस्मिक नहीं है। निश्चय ही इनमें कोई ऐसा सम्बन्ध है, जिसके कारण एक धारणा अवश्य ही दूसरी धारणा का अनुसरण करेगी। ह्यूम ने इस भावानुसंग (Association of Ideas) के तीन नियम बताये हैं। प्रथम है सादृश्य (Similarity)। यदि दो वस्तुओं में समरूपता है तो एक की धारणा मन में आने पर दूसरे की धारणा भी मन में आ ही जाती है। दूसरा है कालगत या देशगत निकटता (Contiguity)। दो घटनाओं के एक के बाद एक घटित होने पर अथवा एक ही स्थान में

घटित होने पर, एक धारणा की उत्पत्ति के साथ दूसरे का भी स्मरण हो आता है। तीसरा नियम है, कार्य-कारण सम्बन्ध (Causality)।

ह्यूम के दर्शन में कार्य-कारण विधि का एक विशेष स्थान है। कार्य कारण सम्बन्ध से ठीक क्या बोध होता है, ह्यूम ने इसका विश्लेषण किया है। जब हम देखते हैं कि एक घटना के बाद ही दूसरी घटना घटित होती है, तो पहिली को हम कहते हैं कारण, और जो बाद में घटित होती है, उसको कहते हैं, कार्य। लकड़ी से आग होती है; लकड़ी को हम आग का कारण कहते हैं और आग को कहते हैं लकड़ी का कार्य। लकड़ी के साथ आग के इस सम्बन्ध को हम कार्य-कारण सम्बन्ध कहते हैं। लकड़ी के साथ आग का एक ऐसा सम्बन्ध है कि हमारे मन में यह धारणा होती है कि लकड़ी से आग होगी ही। ह्यूम ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हम यदि अपने अनुभव से विचार करें तो इस कार्य-कारण सम्बन्ध को एक नई दृष्टि से देखेंगे। जो हमारे प्रत्यक्ष का विषय है, उसी के अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेंगे। इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष के विषय हैं आग और लकड़ी। अर्थात् हम एक बार लकड़ी को प्रत्यक्ष करते हैं और फिर आग को। लकड़ी और आग, ये दो घटनाएं एक के बाद एक इन्द्रियगोचर होती हैं। परन्तु लकड़ी और आग में जो संयोग-सूत्र है, उसको हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इसलिये लकड़ी और आग, कार्य और कारण, के बीच कोई वास्तविक संयोग सूत्र नहीं है। लकड़ी और आग ये दो पृथक् घटनाएं हैं। इनमें जो तथाकथित संयोग है और उस संयोग में जो अवश्यम्भाविता है, उसका कोई अनुभव हमें नही है। यदि हम प्रत्यक्ष नहीं करते तो कैसे कहें कि लकड़ी और आग में एक अनिवार्य योग (Necessary Connection)

सचमुच है ? क्योंकि बार्कले ने पहिले ही कहा है कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं उसका अस्तित्व नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कार्य-कारण सम्बन्ध की जो हमारी धारणा है, वह मन की सहजात धारणा (Innate) है; क्योंकि मन की कोई सहजात धारणा है ही नहीं; सब धारणाएं इन्द्रिय-लब्ध हैं, अनुभूति से उत्पन्न हैं। इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध की जो धारणा है, वह हमारे मन की सहजात धारणा भी नहीं है और न प्रत्यक्ष का विषय है। इसलिये ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध की कोई वास्तविकता नहीं है। कार्य कारण से भिन्न है, इसलिये कारण में उसका अस्तित्व नहीं है। जो आग है, वह लकड़ी नहीं और जो लकड़ी है वह आग नहीं, यह तो सभी स्वीकार करेंगे। इन्द्रियों के द्वारा हमारे अनुभव में जो चीज आती है वह एक संवेदन के बाद दूसरा संवेदन मात्र है। अर्थात् घटनाओं के क्रम को हम प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उनमें कोई अविच्छेद्य योग का सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हमें लगता है कि कार्य-कारण के बीच कोई अविच्छेद्य योगसूत्र है। इस प्रकार की धारणा का कारण क्या है ? प्रकृति के राज्य की घटनाओं में कोई संयोग नहीं है, परन्तु हमारे मन में यह धारणा क्यों उठती है कि इनमें कोई संयोग है ? ह्यूम के अनुसार यह धारणा अभ्यास का फल छोड़कर और कुछ नहीं है। बारंबार एक घटना को दूसरी का अनुसरण करते देखकर हमारे मन में यह विश्वास जड़ पकड़ लेता है कि इनके बीच परस्पर एक अविच्छेद्य सम्बन्ध का योग है। इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध वास्तव नहीं है, यह मन का विश्वास मात्र है। यह मन की अभ्यासजनित एक भ्रान्ति व्यतीत और कुछ नहीं है।

बहिर्जगत मिथ्या

जिस युक्ति से ह्यूम ने प्रमाणित करने की चेष्टा की कि कार्य-कारण सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी युक्ति से उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की कि असंख्य और विचित्र वस्तुओं से पूर्ण यह जगत मिथ्या है, मन की भ्रान्ति मात्र है। प्रत्यक्ष न करने से कैसे जानें कि कोई वस्तु सचमुच है? घर में बैठे हैं, सामने दीवार पर तसवीर देख रहे हैं—उसका अस्तित्व हमारे निकट सत्य है। घर से निकल कर एक घण्टे बाद फिर घर में तसवीर को देखते हैं। परन्तु एक घण्टा जो इस तसवीर को नहीं देखा तथापि मन में यह सन्देह नहीं होता है कि इस समय वह तसवीर नहीं थी। सन्देह न होने का कारण क्या है? सन्देह तो होना ही स्वाभाविक है। उस समय तो चित्र किसी के प्रत्यक्ष का विषय नहीं था; और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं, उसका अस्तित्व नहीं। इसलिये तसवीर घर में उसी स्थान पर है, यह हमारे मन का विश्वास मात्र है। वास्तव में हमने दो बार चित्र को देखा है अर्थात् हमारे मन में दो बार चित्र के दो पृथक् रूपों ने रेखापात किया है। इन दो रूपों का योग हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इसलिये हम यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि एक ही चित्र निरवच्छिन्न रूप में है, वह मानस-पट पर कभी प्रतिबिम्बित होता है और कभी नहीं। ह्यूम के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान से जो प्रमाणित होता है, वह है मात्र पृथक्-पृथक् संवेदनों (Sensations) का अस्तित्व। इस प्रकार हमारे अपने शरीर का निरवच्छिन्न अस्तित्व भी प्रत्यक्ष-सापेक्ष नहीं, बल्कि अनुमान-सापेक्ष है; कुछ संवेदनों की समष्टि मात्र है। यहां तक कि अपने ज्ञान में हम जिस जगत को पाते हैं वह संवेदनों की समष्टि छोड़कर और कुछ नहीं है।

संवेदनों में कोई पारस्परिक योगसूत्र नहीं है; जगत असंख्य संवेदन-कण का समावेश मात्र है।

मन मिथ्या

उल्लिखित एक ही युक्ति के द्वारा ह्यू म ने दिखाया है कि 'मन' नामक भी कोई सत्य वस्तु नहीं है। 'मैं' के रूपमें हम जिसे जानते हैं और जिसका प्रचार करते हैं, वह भी तो कुछ संवेदनों की समष्टि छोड़ और कुछ नहीं है। कोई संवेदन अथवा कोई अनुभूति निरवच्छिन्न रूपमें हमारे ज्ञान में जागृत नहीं रहते। इसलिये यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि जो 'मैं' पिछली रात मित्र गृहमें साहित्यकी आलोचना कर रहा था, वही 'मैं' आज सुबह दर्शन का इतिहास पढ़ रहा हूँ। संवेदन (Sensation) के बाद संवेदन आ रहे हैं, अनुभूति के बाद अनुभूति हो रही है। हमारा जीवन इन अनुभूतियों की समष्टि मात्र है। इनमें कोई परस्पर संयोग नहीं है। अतएव जिसको 'मैं' कह रहा हूँ या मेरा मन कह रहा है, एक विशेष वस्तु के रूप में उसका कोई एकत्व (Identity) नहीं है। 'मैं' बराबर 'मैं' ही रहा हूं—मेरी यह निरवच्छिन्न सत्ता, सत्य नहीं, काल्पनिक है। इसलिये इस कथनका कोई अर्थ ही नहीं होता कि मन जड़ पदार्थ है या चैतन्यमय, क्योंकि यह कोई पदार्थ ही नहीं है। ह्यू म के अनुसार न कोई जड़ पदार्थ है और न कोई चैतन्य पदार्थ है। जो है वह असंख्य संवेदन कणों का स्तूप मात्र है।

ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी कोई निश्चयात्मक युक्ति नहीं

है। पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में जिन युक्तियों की अवतारणा की है, वे अनुभववादी के निकट असिद्ध हैं। पहिले तो कार्य-कारण सम्बन्ध वास्तव नहीं है। इसलिये ईश्वर को जगत का कारण, अथवा हमारे मन में जो असीमत्व की धारणा है, उसका कारण कहना असंगत है। दूसरा, कार्य और कारण को दो पृथक् वस्तुओं के रूप में प्रत्यक्ष करने पर ही, उनके बीच किसी योगसूत्र का अनुमान हम कर पाते हैं। घड़ी देखकर घड़ी के निर्माता के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो विश्वास पैदा होता है, इसका कारण यह है कि अपने अनुभव में हमने घड़ी और उसके निर्माणकर्ता को एकत्र देखा है। घड़ी निर्माता का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान है, परन्तु जगत निर्माता ईश्वर का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं है। इसलिये जगत को प्रत्यक्ष कर ईश्वर का अनुमान सम्भव नहीं। कारण रूपी ईश्वर तो हमारे प्रत्यक्ष के बाहर हैं। अतएव ह्य ूम के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में हम कोई युक्ति प्रदर्शन नहीं कर सकते। ईश्वर के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता।

ह्य ूम के दर्शन में हमने देखा कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, उसका कोई अस्तित्व न होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि कार्य-कारण सम्बन्ध, जड़-जगत, चैतन्य, ईश्वर आदि सत्य हैं या नहीं। पुनः यह कि कार्य-कारण सम्बन्ध पर विज्ञान, चैतन्य पर दार्शनिकतत्व-विचार, और ईश्वर पर धर्म निर्भर होने के कारण विज्ञान, दर्शन या धर्म इनमें से कोई भी हमें निश्चित ज्ञान नहीं दे सकता। इसलिए अनुभववाद की युक्ति से हमें अन्त तक अनिश्चयता छोड़ और कुछ नहीं मिलता। ज्ञान का विश्लेषण कर लॉक, बार्कले और ह्य ूम ने हमको अंत तक एक अनिश्चयता

के राज्य में पहुँचाया है। जिस सिद्धान्त पर हम उपनीत हुए, उससे हमें सत्य नहीं मिला, मिला सन्देह। अनुभववाद परिणत हुआ सन्देहवाद (Scepticism) में।

ह्यूम स्वयं पूर्ण सन्देहवादी थे या नहीं, यह कहना कठिन है। उन्होंने गणित की निश्चयता (Mathematical Truth) को स्वीकार किया है। इसके अलावा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हुए कि युक्ति के द्वारा विश्लेषण का फल अनिश्चित है, उन्होंने मनुष्य के सहज विश्वास (Natural Belief) को कुछ प्रधानता दी है, व्यावहारिक जगत में इसकी प्रयोजनीयता को स्वीकार किया है। इस सहज विश्वास और मानसिक अभ्यास पर निर्भर रहकर विज्ञान की आलोचना उनके द्वारा अनुमोदित था। अलौकिक पर ह्यूम का विश्वास न था। इससे यही प्रमाणित होता है कि प्राकृतिक नियम के सम्बन्ध में उनका दार्शनिक सन्देह रहने पर भी, उसके व्यावहारिक सत्य के प्रति उनकी आस्था थी। ह्यूम के संदेहवाद का यही अर्थ है कि लॉक और बार्कले के सिद्धान्त को ग्रहण करने से यह मानना ही होगा कि जो हमारे अनुभव के बाहर है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं। लेकिन प्रश्न उठ सकता है कि लॉक, बार्कले के सिद्धान्त को ग्रहण करना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। ऐसी बात नहीं है, इसका प्रमाण दर्शन के इतिहास में ही मिलता है।

सन्देहवाद कभी परम तत्व के रूप में गृहीत नहीं हो सकता। क्योंकि सन्देहवाद के नियम के अनुसार ही सन्देहवाद के ऊपर ही सन्देह हो जाता

है। इसलिये, ज्ञान में हो, अज्ञान में हो किसी तत्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। ह्यूम के सन्देहवाद ने भी इसे अवश्य स्वीकार कर लिया है कि हम चाहे यह न जानें कि विज्ञान, धर्म तथा दर्शन सत्य है या नहीं, परन्तु इतना जानते हैं कि सन्देहवाद का सिद्धान्त सत्य है। अर्थात् अन्य किसी सत्य के प्रति चाहे सन्देह हो, परन्तु सन्देहवाद सन्देह-मुक्त है। मैं जो सन्देह कर रहा हूँ, इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा हो तो अपने सन्देह को मैं प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीलिये कहना पड़ता है कि चरम अनिश्चयता सम्भव नहीं; इसके पीछे अनजान में कोई निश्चित बोध का आलोक अवश्य ही प्रच्छन्न है। हमारे मन के पीछे इस प्रकार एक निश्चय सत्य का आलोक ह्यूम की विचारधारा में भी प्रच्छन्न है। ह्यूम उसको देख नहीं पाये।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में ह्यूम की विचारधारा का एक विशेष स्थान है। इसकी प्रथम विशेषता है, ज्ञानतत्व में अन्तर्दर्शन पद्धति का प्रयोग। ज्ञानमीमांसा में मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method) के प्रयोग के द्वारा ह्यूम ने इसको परिणति दी है। यह परिणति सन्देहवाद तक पहुँच कर रुक गई है; और इसके परिणामस्वरूप ज्ञानतत्व की नवीन मीमांसा सम्भव हुई है। दूसरी ओर कोंत और मिल ने इसी को बुनियाद बनाकर प्रत्यक्षवाद (Positivism) का प्रचार किया है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इस अनुभववाद की पद्धति को नीति-विज्ञान और समाज-विज्ञान ने अनेकांश में ग्रहण किया है।

हमने देखा कि लॉक ने ही प्रथम बुद्धि का विश्लेषण किया। हमें ज्ञान किस प्रकार से होता है, इसकी सीमा क्या है, धर्म और नीति सम्बन्धी हमारी धारणाएं सहजात हैं या नहीं—इत्यादि प्रश्नों का उत्थापन उन्होंने किया है, इनका उत्तर भी हमें मिला; मन का सहजात कुछ नहीं, इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, उनके सिवा मन में और कुछ नहीं है। परन्तु क्या इससे यही प्रमाणित नहीं होता कि हमारा सब ज्ञान जड़-जगत का ही ज्ञान है? बाह्य वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का संस्पर्श ही तो ज्ञान है। बाहर जड़ छोड़ और क्या है? इसलिये एकमात्र दर्शन है जड़वाद। हमने यह भी देखा कि बार्कले के अनुसार लॉक का दार्शनिक सिद्धान्त वास्तव में जड़वाद को प्रमाणित नहीं करता, बल्कि उससे इसका विपरीत ही प्रमाणित होता है। मन के बाहर जड़ नाम की कोई चीज नहीं है; जड़ मन का ही दूसरा पहलू है। ह्यूम ने आगे चलकर यह दिखलाया कि जैसे जड़ नाम की कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही मन नाम की भी कोई चीज नहीं है। जड़ नहीं है, चैतन्य नहीं है, इसलिये धर्म या नीति नाम की भी कोई वस्तु नहीं है। कार्य-कारण का कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिये विज्ञान हुआ अनिश्चित का ज्ञान। ह्यूम के अनुसार, गणित में जो अनिवार्यता है, (जैसे २×२=४) वह शब्दों की पुनरावृत्ति को छोड़कर और कुछ नहीं है। इसलिये देखा यह गया कि बुद्धि के तलवार ने जड़-दानव की हत्या न कर चैतन्य की ही समाप्ति की, और धर्म तथा विज्ञान के मूल को भी शिथिल कर दिया।

जर्मन दार्शनिक काण्ट, ह्यूम के इस सन्देहवादी सिद्धान्त से परिचित हुए। लाइबनिट्स और ऊल्फ की विचारधाराओं में वह लालित हुए थे, इसलिये ह्यूम के सिद्धान्त ने उन्हें अत्यन्त आन्दोलित किया। अपने बुद्धि-

सिद्ध दार्शनिक मत के अनुसार, धर्म, नीति, दर्शन, विज्ञान सबको स्वीकार कर, वह सन्तुष्ट थे। परन्तु बुद्धि ने अब यह दिखलाया कि इनमें कोई निश्चित सत्य नहीं है। काण्ट के मन में यह प्रश्न उठा कि, धर्म, दर्शन, विज्ञान क्या ये सब मन की भ्रान्ति मात्र हैं? परन्तु बुद्धि प्रतिपादित सिद्धान्त ही सत्य हों, ऐसा न भी तो हो सकता है। बुद्धि की शक्ति के सम्बन्ध में ही मनुष्य के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि रूसो ने बुद्धि के निर्देश को अग्राह्य कर अनुभूति को ही (Feeling) सत्य के एकमात्र प्रदर्शक के रूप में स्वीकार करने को मनुष्य को आह्वान किया। अनुभूति के बल पर ही मनुष्य जीवन के परम सत्य का आविष्कार कर सकेगा। मनुष्य की सहजात वृत्तियों के स्वाभाविक स्फुरण से इस अनुभूति को जागृत और प्राण पूर्ण करना ही रूसो का शिक्षा तत्व है। शिक्षातत्व के सम्बन्ध में रूसो की विख्यात पुस्तक 'एमिल' (Emile) को पाठ कर काण्ट को एक नये आलोक का सन्धान मिला। यह पुस्तक पाठ काण्ट के जीवन की एक स्मरणीय घटना है। बुद्धि तथा अनुभूति ने काण्ट के सम्मुख अपने सिद्धान्तों को उपस्थापित किया। उनके सामने यही प्रश्न प्रधान हो उठा कि सत्य के साक्षात्कार के लिये वास्तविक पथ-प्रदर्शक कौन है—बुद्धि, या अनुभूति? इस प्रश्न का समाधान करना ही काण्ट की साधना थी; और काण्ट की इस साधना ने ही जर्मनी में भाववाद (Idealism) को प्रतिष्ठित किया।

इमानुएल काण्ट (Immanuel Kant 1724-1804)

सन् १७२४ ई० में जर्मनी के प्रुशिया प्रदेश के कोनिग्स्बर्ग नगर के एक दरिद्र परिवार में काण्ट का जन्म हुआ। यहीं उन्होंने अपना पूरा जीवन

व्यतीत किया । १२ वर्ष की अवस्था में उनकी माता की मृत्यु हुई । और २१ वर्ष की अवस्था में वह पितृहीन हुए । कोनिग्स्वर्ग विश्वविद्यालय के वह एक मेधावी छात्र थे । विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद कुछ एक वर्ष, अपने जीविका-निर्वाह के लिये, उन्हें एक सम्भ्रान्त परिवार में शिक्षक का काम करना पड़ा । इसके बाद बत्तीस वर्ष की अवस्था में वह विश्वविद्यालय के शिक्षक (Instructor) नियुक्त हुए और ४७ वर्ष की अवस्था में अध्यापक नियुक्त हुए। दर्शन की विभिन्न शाखाओं को छोड़कर गणित, पदार्थ-विद्या, भूगोल आदि का अध्यापन भी उन्हें करना पड़ता था । प्रथम जीवन में काण्ट ने बुद्धिवाद को ही स्वीकार किया था । उनके दार्शनिक मत पर लाइबनिट्स और ऊल्फ का प्रभाव ही सर्वाधिक था । परन्तु बाद में ह्यूम के अनुभववाद ने उनके विचारों को एक नई धारा में प्रवाहित किया उन्होंने स्वयं कहा है कि उनके तन्द्राच्छन्न मन को जो बिना विचार के ग्रहण करने का अभ्यस्त था, ह्यूम के संदेहवाद ने जागृत किया। तथापि अनुभववाद को भी वह पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर पा रहे थे । इसके अनन्तर, बुद्धिवाद और अनुभववाद, इन दोनों के मध्य से ही अपने निजी दार्शनिक मतवाद का सन्धान पाकर, उसी की परिणति की उन्होंने चेष्टा की । बुद्धिवाद और अनुभववाद के समन्वय से, १५ वर्ष व्यापी ज्ञानतत्व की एक नई परिकल्पना को समाप्त कर, काण्ट ने, ५७ वर्ष की अवस्था में, सन् १७८१ ई० में, अपने विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ "शुद्ध-बुद्धि का विचार विश्लेषण" (Critique of Pure Reason) का प्रकाशन किया ।

साधारण दृष्टि से काण्ट के जीवन को घटना बहुल नहीं कहा जासकता। उनके चिरकुमार जीवन में सांसारिक घटनाओं का वैचित्र्य न था, परन्तु

उनके मनोजीवन में नये-नये तत्वों के आविष्कारों की घटनाओं को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। पारिवारिक संस्कार के सूत्र से काण्ट को मिला था धार्मिकता और संयम। प्रुशिया के तत्कालीन राष्ट्रीय व सामाजिक वातावरण ने उनको दिया था एक आत्मनिर्भरता और नियमानुवर्तिता का जीवन। उनके चरित्र की प्रथम विशेषता थी नियमनिष्ठा। उनका मन था प्रधानतः विचारशील; सब दिशाओं में विचार कर तब वह किसी सिद्धान्त पर उपनीत होते थे। यह बात सही नहीं कि उनके मन में जब जैसा विचार उत्पन्न हुआ, उसी को उन्होंने लिपिबद्ध किया, उनकी पूर्व की रचनाओं से उनकी बाद की रचनाओं से कोई संगति नहीं है, उनकी विचारधारा में कोई क्रम परिणति नहीं है। विषयवस्तु की गम्भीरता और उसे मातृभाषा में प्रकाश करने के दुःसाध्य आयास के कारण उनकी रचना सहजग्राह्य नहीं हो सकी है। यह भी सत्य नहीं कि दार्शनिक विचारों के घने आवरण में अपने को आवृत्त कर, काण्ट जन समाज से दूर रहते थे। ज्ञान की साधना में एकान्तता का प्रयोजन है। सम्भवतः यही कारण है कि काण्ट जनता को अपने घर में नहीं बुला लाते थे। यह बात सत्य है कि वह अपने सब कार्य यथासमय और यथानियम सम्पन्न करते थे, यहां तक कि उनके अपराह्न भ्रमण के समय उनको देखकर लोग अपनी घड़ी मिलाते थे। परन्तु यह भी सुनने में आया है कि छात्र-जीवन में काण्ट ताश, बिलियर्ड और मजलिसों के आनन्द का भी उपभोग करते थे। साथी के रूप में वह थे जनप्रिय; अध्यापक के रूप में वह थे अतुलनीय और समाज के सदस्य के रूप में वह थे कर्त्तव्य-परायण और उदार। सन् १८०४ ई० में कान्ट की मृत्यु हुई। काण्ट प्रतिदिन जिस लिंडेन वीथिका में भ्रमण करने को जाते थे, आज भी उसका नाम है, "दार्शनिक की वीथिका"।

काण्टपूर्व दर्शन की व्यर्थता और काण्ट की समस्या

पहिले ही कहा जा चुका है कि काण्टपूर्व दर्शन में बुद्धिवाद और अनुभववाद में ज्ञानतत्व की मीमांसा को लेकर विरोध था। बुद्धिवादी के अनुसार ज्ञान मन का सहजात है। परन्तु ज्ञान में पर्यवेक्षण (Observation of Facts) की प्रयोजनीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। घर बैठे, 'क्योंकि'—'इसलिये' की सहायता से विश्व के सब तथ्यों की जानकारी हम क्यों नहीं कर सकते, बाहर निकलकर प्रकृति के साथ परिचय क्यों करना पड़ता है—इसका कोई उत्तर बुद्धिवादी नहीं दे पाता। अर्थात् ज्ञान यदि मनोजात है, तो पर्यवेक्षण की क्या आवश्यकता है, बुद्धिवाद इसकी कोई व्याख्या नहीं कर सका। दूसरी ओर अनुभववाद भी इसकी कोई व्याख्या न कर सका कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, इस विषय में किसी के भी मन में कोई सन्देह नहीं रहता, यह सबके लिए सत्य है और अनिवार्य रूप से सत्य है। परन्तु रात्रि, दिन का अनुगामी है, इस विषय में समान अनिवार्यता का अभाव है। ऐसा असम्भव नहीं कि सौर-जगत के गति-परिवर्तन से उस नियम का व्यतिक्रम हो। परन्तु दो और दो से चार छोड़ और कुछ हो सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि हमारा सब ज्ञान इन्द्रियलब्ध है, तो क्या कारण है कि एक क्षेत्र में वह अवश्यम्भावी और सार्विक जान पड़ता है, और दूसरे क्षेत्र में इस सम्भावना की आशंका मन में उठती है कि उसका व्यतिक्रम हो भी सकता है? विज्ञान में हम जिस सत्य का आविष्कार करना चाहते हैं, उसमें प्रत्यक्ष दर्शन की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता है 'युक्ति की अनिवार्यता'

(Logical Necessity) की । अतएव प्रत्यक्ष के साथ युक्ति की अनिवार्यता का निश्चय ही कोई सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को खोज निकालना ज्ञानतत्व का एक अवश्य कर्त्तव्य है । काण्ट ने यही चेष्टा की ।

युक्ति के बल पर ही ह्यूम सन्देहवाद के सिद्धान्त पर उपनीत हुए, परन्तु अनजान में अपनी युक्ति में ही वह ज्ञानतत्व की समस्या के समाधान का इंगित भी छोड़ गये हैं। ह्यूम ने यह प्रश्न उठाया कि वाह्य प्रकृति में तो हम केवल क्रमानुसार घटनाओं को घटित होते देखते हैं, परन्तु क्या कारण है कि हमारे मन में यह बोध होता है कि ये घटनाएं परस्पर संयुक्त हैं ? मन के बाहर जो क्रमिक घटनाएं मात्र हैं; उनमें एक निश्चयात्मक योगसूत्र की धारणा मन के अन्दर किस प्रकार उत्पन्न होती है ? ह्यूम ने स्वयं इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि इस योगसूत्र अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध की धारणा मन का अभ्यास छोड़ और कुछ नहीं है ।

केवल कार्य-कारण सम्बन्ध की ही व्याख्या नहीं, बुद्धिवादी अथवा अनुभववादी, इनमें से कोई नीति और धर्म की व्याख्या भी न कर सका। हाब्स इत्यादि की नीति में मनुष्य अन्त तक कुछ प्राकृतिक शक्तियों तथा सामाजिक दाब का परिणाम छोड़ और कुछ नहीं है । अर्थात् मनुष्य का कर्म उसके मन की स्वतन्त्र इच्छाकृत नहीं, बल्कि वाह्य घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है । परन्तु ऐसा होने से कृतकर्म के लिये मनुष्य का कोई दायित्व नहीं रहता, अतएव धर्म और नीति का अस्तित्व भी नहीं रहता। अनुभववाद में भी हमें घटनाओं का विवरण मिलता है, तथ्यों को हम जान लेते हैं, परन्तु उनके उचित-अनुचित के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते । हमने

किसी को बिना कहे दूसरे की वस्तु को लेते हुए देखा, परन्तु उसका यह काम उचित है या नहीं यह तो हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, और इसलिये हमारे लिये यह जानने का कोई उपाय भी नहीं है। धर्म और नीति जिसके साथ हमारा न्याय-अन्याय बोध सम्मिलित है, उसकी जांच हम अनुभव की कसौटी पर नहीं कर सकते। इसलिये, वुद्धिवादी या अनुभववादी इनमें से कोईभी धर्म या नीति की व्याख्या नहीं कर सका। मानव-जीवन के प्रधान विषयों की व्याख्या में दर्शन की इस विफलता के कारण काण्ट ने यह निश्चय किया कि ज्ञानतत्व के पुनर्विश्लेषण की नितान्त प्रयोजनीयता है। काण्ट ने यह समझ लिया कि दर्शन को तीन विशेष प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना होगा। प्रथम, गणित में जो सार्विक और अनिवार्य सत्य है, वह किस प्रकार सम्भव है। द्वितीय, विज्ञान का सत्य सर्वजन-ग्राह्य किस प्रकार होता है। तृतीय अतिविज्ञान (Metaphysics) का सत्य ही किस प्रकार सम्भव है।

काण्ट के अनुसार पूर्ववर्ती दार्शनिकगण इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके, क्योंकि उनकी दर्शन-पद्धति ही भूल थी। दार्शनिक ने जीव, जगत, ईश्वर समस्त विश्व के स्वरूप को जानना चाहा। इसमें कुछ कहने का नहीं, क्योंकि मनुष्य के लिये यह आकांक्षा स्वाभाविक है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है, कि, इस ज्ञान-साधना के पहिले दार्शनिक के मन में कभी यह नहीं आया कि इस विश्व के तत्व को जानने के पहिले, अपनी ही ज्ञान-शक्ति को विश्लेषण कर देखना नितान्त आवश्यक है। जिस यन्त्र का अवलम्बन कर हम विश्व-तत्व को जानने चले हैं, वह यंत्र कहां तक सक्रिय है और उसकी उक्ति की सीमा कहां तक विस्तृत है, यह पहिले से न जानकर आगे बढ़ना वैज्ञानिक

मनोवृत्ति का परिचायक नहीं। मनन शक्ति का आश्रय लेकर ही दर्शन तत्वों के मर्मोद्‌घाटन की चेष्टा करता है; परन्तु इस मनन शक्ति को ही, मनुष्य के जानने के इस यन्त्र को ही, भली-भांति समझना है। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय—इन तीनों के सम्बन्धों पर दार्शनिक विचार करता है। परन्तु काण्ट ने यह दिखलाया कि अभी तक ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों को लेकर ही दार्शनिक व्यस्त रहा है, ज्ञान की प्रकृति के विषय में उसने कोई आलोचना नहीं की। काण्ट के अनुसार इस पूर्वालोचना के बिना जो दार्शनिक विचार किया जाता है, वह दर्शन-पद्धति नहीं है, वह विचार-निरपेक्ष स्वीकृति (Dogmatism) मात्र है। उनके अनुसार, वास्तविक दर्शन पद्धति है विचारपूर्वक विश्लेषण (Criticism)। बुद्धिवादी के अनुसार मन के भीतर ही ज्ञान के सब उपादान वर्त्तमान हैं। अनुभववादी के अनुसार, मन में कुछ नहीं है, ज्ञान के सब उपादान बाहर से ही आते हैं। काण्ट के अनुसार, यही विश्लेषण करने को है कि इनमें से कौन सही है। अथवा, यह भी सम्भव है कि ज्ञान के उपादान आंशिक रूप से इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हैं और आंशिक रूप से ये मन की सृष्टि हैं। यदि ऐसा ही हो तो ज्ञान के इन उपादानों में कितना इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है और कितना मनोजात है, सबसे पहिले इस पर विचार करना आवश्यक है। यही है काण्टीय दार्शनिक पद्धति-"विचार-वाद" (Criticism)।

जब हम किसी विषय में युक्ति की अवतारणा करते हैं, तो हम कुछ वाक्यों (Judgment) का व्यवहार करते हैं। ये वाक्य ही हमारी युक्ति के उपादान हैं। ये वाक्य दो प्रकार के हैं—विश्लेषक वाक्य (Analytical Judgment) और संयोजक वाक्य (Synthetical Judgment)।

किसी विषय का वर्णन करते हुए जब हम विश्लेषक वाक्य का व्यवहार करते हैं तो उस विषय में कोई नवीन तथ्य बतलाने की बात नहीं होती। जैसे "जड़ पदार्थ की विस्तृति है"——इस वाक्य में जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं कही गई। क्योंकि जड़-पदार्थ होने से उसकी विस्तृति होगी ही; विस्तृति शब्द से जड़-पदार्थ के किसी नये गुण का उल्लेख नहीं किया गया। 'जड़-पदार्थ' इस शब्द के अर्थ में ही 'विस्तृति' शब्द का अर्थ भी प्रच्छन्न है; 'विस्तृति' शब्द के प्रयोग से इस प्रच्छन्न अर्थ को विश्लेषित कर प्रकाशित किया गया है। इसलिये 'जड़-पदार्थ की विस्तृति' है, यह एक विश्लेषक वाक्य है। परन्तु यदि यह कहें कि "शनिवार का दिन गरम था" तो निश्चय ही शनिवार के सम्बन्ध में एक नई बात कही गई। क्योंकि शनिवार होने के लिये गरम होना चाहिये यह बात नहीं है; गरमी शनिवार का कोई निजी गुण नहीं है। इसलिये 'गरम' शब्द के उल्लेख से यहां शनिवार के सम्बन्ध में एक नये तथ्य की विज्ञप्ति की गई। अर्थात् 'शनिवार' शब्द के अर्थ के साथ 'गरम' शब्द के अर्थ का संयोग कर एक नये ज्ञान का प्रकाश हुआ। इस कारण से 'शनिवार का दिन गरम था'——यह एक संयोजक वाक्य है। नये ज्ञान के सञ्चय में ही हमारी अभिज्ञता है। अनुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान को जब हम "वाक्यों" में प्रकाश करते हैं, तो साधारणतया वे 'वाक्य' संयोजक वाक्य ही होते हैं। काण्ट ने दिखलाया कि हमारे अनेक संयोजक वाक्यों में अनिवार्यता (Necessity) और सार्विकता (Universality) है। जैसे "जड़-पदार्थ में भार है"——यह वाक्य। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अभिज्ञता से हम यह जानते हैं कि जड़-पदार्थ में भार है। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता कि जड़-पदार्थ में भार न हो। अर्थात् इन्द्रिय प्राप्त

ज्ञान होने पर भी, जड़-पदार्थ का भार, सार्विक और अनिवार्य रूप से सत्य है।

अब प्रश्न यह है कि यह सार्विकता और अनिवार्यता कहां से आई? अनुभववादी कहते हैं कि अनुभव में हमें केवल मिलता है घटनाओं का क्रम, उनकी सार्विकता और अनिवार्यता को हम नहीं पाते। तो फिर हमारे संयोजक वाक्यों में यह अनिवार्यता और सार्विकता कहां से आई? बुद्धिवादी के अनुसार ज्ञान और ज्ञान की सार्विकता तथा अनिवार्यता सभी बुद्धिगत (A Priori) हैं। किन्हीं संयोजक वाक्यों की सार्विकता और अनिवार्यता का कारण यदि इन्द्रियप्राप्त नहीं है तो यही समझना होगा कि वह बुद्धिगत है। अर्थात् हमें यह स्वीकार करना होगा कि किसी-किसी संयोजक वाक्य में इन्द्रियज ज्ञान के साथ बुद्धिगत ज्ञान भी सम्मिलित है। अतएव जान यह पड़ता है कि अनुभववादी और बुद्धिवादी दोनों में सत्य का अंश है। यही कारण है कि किसी-किसी वाक्य में हम संयोजना के साथ सार्विकता और अनिवार्यता को भी पाते हैं। इनको 'सार्विक संयोजक वाक्य' (A Priori Synthetical Judgment) कहा जा सकता है। काण्ट ने यह भी दिखलाया कि विज्ञान और अतिविज्ञान (Metaphysics) के मूलतत्व इस प्रकार के सार्विक संयोजक वाक्य हैं। इसलिये यदि दार्शनिक को यह दिखलाना पड़े कि विज्ञान और अतिविज्ञान किस प्रकार संभव है तो उसे यही दिखलाना पड़ेगा कि सार्विक संयोजक वाक्य किस प्रकार संभव है। इसलिये काण्ट के निकट दर्शन की प्रधान समस्या हुई कि किस प्रकार सार्विक संयोजक वाक्य संभव है, इसका विचार विश्लेषण। काण्ट के अनुसार इस समस्या का समाधान तब होगा, जब हम ज्ञान के अन्दर इस बुद्धिगत अंश का वैज्ञानिक रूप से विश्ले-

षण कर दिखा सकें। यह अंश अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं, इसीलिये इसको बुद्धिगत कहा गया है। अनुभव करने के पहिले ही यह मन में वर्त्तमान है, अनुभव इसका कारण नहीं है। इसलिये अनुभूति के उपादान से इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यह विश्लेपण-पद्धति भी अनुभूति के ऊपर निर्भर नहीं होगी। मन के इन्द्रियलब्ध अभिज्ञता के सञ्चय के द्वारा बुद्धि के स्वरूप को जाना न जा सकेगा; इस सञ्चय को वाहर रखकर ही जानना होगा। परन्तु यह अन्तदर्शन (Introspection) नहीं है। क्योंकि अन्त-र्दर्शन अनुभव का ही अन्तर्भुक्त है। अनुभव को, अर्थात् इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान को बाहर रखकर बुद्धि की प्रकृति का विश्लेषण करना, यही काण्टीय पद्धति की विशेषता है। यही कारण है कि काण्ट ने इस पद्धति का नाम दिया है अनुभव-निरपेक्ष (Transcendental) विश्लेषण।

काण्टीय दर्शन-पद्धति में बुद्धि की अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण किया गया है। यह दिखलाया गया है कि तीन विभिन्न दिशाओं में तीन प्रकार से बुद्धि की क्रिया प्रकाशित होती है। ये तीन दिशाएं हैं—पहिला ज्ञान, दूसरा नैतिक बोध और तीसरा सौन्दर्य बोध। तीन विभिन्न प्रकाशों में वुद्धि चाहता है सत्य, कल्याण और सुन्दर को। काण्ट ने अपने तीन विख्यात ग्रन्थों में इन तीन विषयों की पर्यालोचना की है। प्रथम ग्रन्थ है—'शुद्ध-वुद्धि का विचार-विश्लेषण' (Critique of Pure Reason), द्वितीय—"नैतिक बुद्धि का विचार-विश्लेषण" (Critique of Practical Reason); तृतीय—"निर्णय-बुद्धि का विचार-विश्लेषण" (Critique of Judgment)।

शुद्ध बुद्धि का विचार विश्लेषण

(Critique of Pure Reason)

"शुद्ध-बुद्धि का-विचार-विश्लेषण" नामक ग्रन्थ में काण्ट ने आलोचना की है कि गणित, विज्ञान तथा अतिविज्ञान (Metaphysics) के सिद्धान्त किस प्रकार सम्भव होते हैं। यह पहिले ही दिखलाया जा चुका है कि अनुभव के ऊपर निर्भर रहकर इनका यथार्थ विश्लेषण सम्भव नहीं। इसलिये इनका अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण करना पड़ेगा।

इस पुस्तक के तीन अंशों में काण्ट ने आलोचना कर यह दिखलाया है कि गणित, विज्ञान तथा अतिविज्ञान के सिद्धान्त सत्य हैं। उनके आलोचना का प्रथम विषय है संवेदन रीति का विश्लेषण। संवेदन प्रणाली में मन की अपनी देन है, यह इसमें दिखलाया गया है। साथ ही यह भी दिखलाया गया है कि मन की इस देन के कारण ही गणित के सिद्धान्त सम्भव हो सके हैं। उनकी आलोचना का दूसरा विषय है बुद्धि का विश्लेषण और बुद्धि की जो दो प्रकार की क्रियाएं हैं, उनका स्वरूप निर्धारण। बुद्धि की एक क्रिया से इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त तथ्यों का समन्वय साधन होता है। इसी समन्वय का परिणाम है 'वाक्य' (Judgment)। काण्ट ने दिखलाया है कि इस समन्वय साधन के फलस्वरूप ही विज्ञान का सत्य सम्भव हो सका है। बुद्धि की द्वितीय क्रिया से, ये 'वाक्य' पुनः समन्वित होकर 'सार्विक धारणा' की सृष्टि करते हैं। प्रथम क्रिया को कहा जा सकता है "चिन्तन" और दूसरी क्रिया को "मनन"।

संवेदन रीति का विश्लेषण
(Transcendental Aesthetic)

वाह्य वस्तुओं के साथ हमारा जो परिचय है, वह इन्द्रियों के द्वारा। हमने पहिले ही देखा है कि इस परिचय का उपादान है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इस पांच प्रकार की इन्द्रियानुभूति का आश्रय अवलम्बन कर ही हमारा वस्तु ज्ञान है। परंतु कोई एक संवेदन (Sensation) अथवा कुछ संवेदनों का समूह भी वस्तु नहीं है। केवल 'मिष्ट' कहने से किसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं होता अथवा, 'सफेद मिष्ट', 'सुगन्ध' आदि कहने से भी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। संवेदनों के समन्वित होने पर ही किसी विशेष वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस समन्वय के पहिले ये किसी वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में नहीं आते; तब तक वे केवल संवेदन मात्र हैं। ये मेज, फूल और पेड़ जिनको हम प्रत्यक्ष करते हैं—ये सब संवेदनों के समन्वय के द्वारा ही विशेष आकार में हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। किन्तु प्रश्न उठता है कि संवेदनों का यह जो समन्वय है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इनके मिलने से जो वस्तु का उद्भव है, यह किस प्रकार से संभव होता है? क्या संवेदन आप से आप समन्वित होकर किसी वस्तुविशेष में परिणत होते हैं, या अन्य कोई पृथक् शक्ति इनका समन्वय करा देती है? लॉक और ह्यूम के अनुसार संवेदन समूह अपने ही गुणों से वस्तुओं के रूप में परिणत होते हैं।

परन्तु काण्ट का यह मत नहीं। संवेदन में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके द्वारा वे वस्तु के आकार में परिणत हो सकें। वे अर्थहीन असम्बद्धों के दल हैं; दूसरी किसी शक्ति के द्वारा विशेषरूप से समन्वित होने पर ही, वे वस्तुरूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होते हैं। काण्ट के अनुसार

यह शक्ति मन की ही है। मन ही संवेदनों को समन्वित कर, अर्थपूर्ण कर वस्तु का आकार दान करता है। यदि ऐसा न होता तो केवल ताकने से ही हम देख पाते। मनोनिवेश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु वास्तव में जब तक हम मनःसंयोग नहीं करते, तब तक संवेदन इन्द्रिय मार्ग से व्यर्थ पुकार कर चले जाते हैं। हम उनको जान भी नहीं पाते। इसको हम सरल भाषा में कहते हैं कि हम आंख से नहीं देखते, देखते हैं मन के द्वारा। हमारे इन्द्रियों के सम्मुख तो जगत की असंख्य वस्तुएं हैं, परन्तु ये सबके सब हमारे ज्ञानगोचर नहीं होतीं। हमारा अनुभव केवल उन वस्तुओं का होता है, जिसके प्रति हमारा मन आकृष्ट होता है। इसलिये मन कोई आधार मात्र नहीं है; केवल सञ्चय करना इसका काम नहीं। मन आहरण करता है, यह सत्य है, परन्तु वह पिपीलिका-धर्मी नहीं है। मन आहरण करके, समन्वय भी करता है; वह वास्तव में मधुमक्षिकाधर्मी है। इन्द्रिय मार्ग से वाह्य जगत के जो तथ्य हमारे निकट आते हैं, मन उनको चुनकर, सजाकर और मिलाकर ज्ञान का भाण्डार पूर्ण करता है।

काण्ट ने दिखलाया कि हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के दो मुख्य अंश हैं। प्रथम है इन्द्रिय मार्ग से आगत वाह्य जगत के तथ्य; द्वितीय है मन के द्वारा उस तथ्य का ग्रहण। मन के द्वारा इस ग्रहण कार्य को विशदरूप से समझना होगा। इस ग्रहण-प्रक्रिया में ही वस्तु को वस्तु रूप में मूर्त होने का संकेत है। मन की निजी दो सांचाएं हैं; वाह्य जगत से मन जिनको ग्रहण करता है, इन्हीं सांचाओं के बीच से उनको मन में प्रवेश करना पड़ता है। मन द्वारा ग्रहण करते समय बाहर के आकारहीन, अर्थहीन तथ्य, इन सांचाओं में ढलकर आकार लाभ कर, विशिष्ट वस्तुओं के रूप में मूर्त हो उठते हैं। मन की ये

दो साँचाएँ हैं—देश और काल (Space and Time)। देश, काल को छोड़कर किसी वस्तु की विशिष्टता कायम नहीं रखी जा सकती। क्योंकि देश और काल के सांचाओं में आकार पाकर ही तो कोई वस्तु, वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होती है। जगत की प्रत्येक वस्तु का 'कहां' और 'कब' है; कोई वस्तु देश, काल के बाहर नहीं रह सकती। रूई को वस्त्र का आकार प्राप्त करने के लिये जैसे सूत को ताना-बाना के अन्दर से जाना ही होगा, वैसे ही इन्द्रियलब्ध बाह्य तथ्यों के विशिष्ट वस्तु के रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होने के लिये मनोगत देश-काल के ताना-बाना के बीच से ही आना होगा। देश-काल के सांचे में आकार प्राप्त करने के पहिले, इन्द्रिय द्वार पर आगत बाहरी तथ्य ज्ञान के प्राथमिक उपकरण हैं। इस उपकरण के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि केवल सांचे से मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। सांचा तो केवल आकार दे सकता है, परन्तु जिस वस्तुपिण्ड को आकार देना है, वह वस्तु ही यदि न हो, तो आकार सार्थक नहीं हो सकता। इसलिये, मन अपना सांचा लेकर तैयार रहा, परन्तु सांचे में ढालने के लिये वस्तु नहीं आई, ऐसी अवस्था में किसी विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। दूसरी ओर, यदि बाहर के आकारहीन, अर्थहीन तथ्य, देश-काल के सांचे में ढलकर, किसी विशिष्ट वस्तु का आकार प्राप्त न हो, तो उनको हम जान नहीं सकते। क्योंकि देश-काल के बीच होकर आने से ही हमारे ज्ञान में उनका प्रकाश होता है। इस प्रकार काण्ट ने दिखाया कि प्रत्यक्ष में मन और मन के बाहर का जगत दोनों की देन है। इन दोनों देनों के फलस्वरूप ही जगत अपने विविध वस्तु सम्भार के सहित हमारे ज्ञान में इस जगत के रूप में प्रकाशित होता है।

परन्तु देश काल किसी मनुष्य विशेष के मन के धर्म नहो हे। ये सार्व-भौमिक हें। मानव-मन का ही धर्म है कि देश-काल के बीच से ही वह जगत को जानता है। इसीलिये, मनुष्य के निकट जगत देश-काल का ही जगत है। यही कारण है कि हम सब का जगत एक ही है। एक ही प्रकार के मनोधर्म द्वारा प्रकाशित, एक ही जगत के अधिवासी होने के कारण, प्रत्यक्षजात ज्ञान के विषय को लेकर परस्पर आदान-प्रदान सम्भव हो सका है। सम्मुख का पेड़ जैसे हमारे निकट निश्चय सत्य प्रतीत होता है, ठीक वैसा ही दूसरे के लिये है।

मन की संवेदन-ग्राहिता का विश्लेषण करते हुए काण्ट ने देश और काल की प्रकृति के सम्बन्ध में आलोचना की है। अनुभववादियों ने देश और काल को जो अनुभव द्वारा प्राप्त मान लिया था, काण्ट के अनुसार वह ठीक नहीं। अनुभववादी के अनुसार एक वस्तु के बगल में दूसरे को देखकर ही, 'देश' के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु के आविर्भाव से 'काल' के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह धारणा सत्य नहीं। काण्ट के अनुसार इसका विपरीत ही सत्य है। अर्थात् देश और काल दोनों मनोधर्म रहने के कारण ही हम एक वस्तु के बगल दूसरी वस्तु को और एक वस्तु के बाद दूसरी वस्तु के आविर्भाव को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अनुभव के द्वारा देश-काल का ज्ञान हमें नहीं होता, बल्कि देश-काल के द्वारा ही अनुभव सम्भव है। अर्थात् देश-काल का अस्तित्व अनुभव के पहिले ही है। मनुष्य के मानसिक संगठन में देश और काल ऐसा मिला हुआ है, कि मन से इनको पृथक् नहीं किया जा सकता। ये मन के प्रकृति-गत हैं और यही कारण है कि ये हमारे लिये अपरिहार्य ही नहीं, बल्कि

अनिवार्य हैं। देश और काल के सांचे में ही दुनिया,'हमारी दुनिया' बनी हुई है।

काण्ट के अनुसार देश और काल सार्विक प्रत्यय (Universal Concept) नहीं। क्योंकि विशेष वस्तु के प्रत्यक्ष फलस्वरूप ही हमारे मन में सार्विक प्रत्यय की सृष्टि होती है। कई वृक्षों को देखकर वृक्षत्व के सम्बन्ध में हमारी एक धारणा की उत्पत्ति होती है। परंतु देश और काल इस प्रकार की सार्विक धारणा नहीं हो सकती। क्योंकि देशविशेष या कालविशेष के रूप में स्वतन्त्र खण्ड खण्ड देश या काल नहीं हैं; है एक अखण्ड देश और एक अखण्ड काल। सार्विक धारणाएं बुद्धिजात हैं; देश और काल सार्विक धारणाएं नहीं, इसलिये बुद्धिजात नहीं हो सकते। काण्ट के अनुसार मन में है संवेदनग्राहिता (Sensibility) और हैं बुद्धि (Understanding)। देश और काल मन के इस संवेदनग्राहिता-धर्म के अन्तर्भुक्त हैं। दृश्यमान जगत अवश्यम्भावी रूप में देश-कालमय जगत है।

देश और काल की प्रकृति का निर्णय कर काण्ट ने अब यह दिखलाने की चेष्टा की कि गणित का सत्य किस प्रकार सम्भव होता है। काण्ट के अनुसार मानवमन के संगठन में ही देश-काल का सांचा होने के कारण गणित का ज्ञान सम्भव हो सका है। सभी जानते हैं कि ज्यामिति निर्भर है देश के ऊपर, अंकगणित निर्भर है काल के ऊपर और बलविद्या (Mechanics) निर्भर है, देश-काल के ऊपर। पहिले ही कहा जा चुका है कि देश और काल सार्विक प्रत्यय नहीं। इसलिये गणित की भित्ति सार्विक प्रत्यय नहीं है। गणित में अनिवार्यता (Necessity) और सार्विकता (Universality) दोनों हैं और इसके अलावा

है नये तथ्य का ज्ञान । अर्थात् गणित में हम पाते हैं अनुभव-निरपेक्ष संयोजना (A Priori Synthesis) । हमने यह भी देखा कि मन के संगठन में जो देश-काल है, वह भी अनुभव-निरपेक्ष और सार्विक हैं। इससे नतीजा यह निकाला जा सकता है कि देश-काल ही अनुभव-निरपेक्ष संयोजना की सृष्टि कर सकता है, और इसीलिये गणित सम्भव हो सका है। अर्थात् गणित में जो अनिवार्यता, सार्विकता और नवीन तथ्य का ज्ञान है, वह देश-काल पर निर्भर है।

इसलिये हम यह देखते हैं कि काण्ट के अनुसार देश और काल मन-निरपेक्ष बाह्य जगत के पदार्थ नहीं। ये पदार्थ के गुण या सम्बन्ध भी नहीं हैं। ये मन के बीच ही हैं। वास्तव में देश को आश्रित कर बाह्य जगत की घटनाएं और काल को आश्रित कर अन्तर्जगत की घटनाएं प्रत्यक्ष गोचर होती हैं। परन्तु सब ज्ञान, चाहे वह बाह्य जगत का हो, चाहे अन्तर्जगत का हो, चैतन्य की ही अवस्था विशेष (State of Consciousness) है। एक दृष्टि से हमारे इन्द्रियलब्ध ज्ञान का कुल काल के ऊपर निर्भर है। देश-काल यदि मन का धर्म हो और हमारी दुनिया देश-काल की दुनिया हो, तो यहां एक प्रश्न उठता है। देश-काल हमारे मन की प्रकृति के ही अंग हैं, इसीलिये यह देश-काल की दुनिया हमारी ही दुनिया है। परन्तु हमारे मन के बीच से प्रकाशित होने के पहिले भी तो दुनिया है; उसका स्वरूप क्या है? देश-काल के सांचे में ढलने के पहिले की दुनिया कैसी है, यह कैसे जाने? इस देश-काल निरपेक्ष जगत के स्वरूप को जानने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जानने की चेष्टा करने से ही वह देश-काल के जगत के रूप में दिखलाई पड़ेगा। इसलिये काण्ट के अनुसार, देश-काल के बीच से जाना और देश-काल के बाहर जिस

जगत को हम नहीं जानते, इन दोनों में चिरकाल से एक व्यवधान है। देश-काल-निरपेक्ष जो पदार्थ है, वह शुद्ध पदार्थ (Pure Thing), पदार्थ का स्वरूप (Thing-in-itself)। इस शुद्ध पदार्थ को जानने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जानने की क्रिया में ही देश-काल का छाप लगकर वह "अशुद्ध" हो जाता है। जिस जगत को हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वह हमारे मन की ही सृष्टि है।

बुद्धि का अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण
(Transcendental Logic)

जगत के विविध पदार्थ के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान है, काण्ट के अनुसार वह निर्भर है हमारे मन की संवेदनग्राहिता और बुद्धि के ऊपर। संवेदनग्राहिता (Sensibility) के द्वारा देश-काल के सांचा में संवेदन के अस्तित्व के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। बुद्धि (Understanding) के द्वारा हम संवेदनों (Sensation) को समन्वित कर उनको अर्थपूर्ण वस्तु के रूप में पहचान सकते हैं। इसलिये हम देखते हैं कि ज्ञान के लिये संवेदनग्राहिता और बुद्धि दोनों नितान्त आवश्यक हैं। संवेदन न हो तो बुद्धि अर्थपूर्ण वस्तु का रूप किसे देगी ? संवेदन है ज्ञान का प्राथमिक उपकरण। दूसरी ओर केवल संवेदन का उपकरण ही ज्ञान के लिये यथेष्ट नहीं है। क्योंकि यह तो अर्थहीन, रूपहीन तथ्य मात्र है। बुद्धि की मध्यस्थता में अर्थ और संगति प्राप्त कर, तब विशिष्ट वस्तु के रूप में संवेदन हमारे ज्ञान में प्रकाशित हो उठते हैं। वस्त्र के लिये जैसे सूत की प्रयोजनीयता है, वैसे ही

बुनकारी की भी । कुछ सूत इकट्ठा करने से ही वस्त्र नहीं बन जाता, और यदि सूत न हो तो बुनकारी किस चीजको लेकर होगी ? हमारे ज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसा ही है । मन में संवेदनग्राहिता और बुद्धि दोनों की क्रियाएं होती हैं । संवेदनग्राहिता मन के सहज प्रत्यक्ष की क्षमता और बुद्धि है मन की विचार-विश्लेषण की क्षमता ।

काण्ट ने इसके पहिले ही मन की संवेदनग्राहिता के सम्बन्ध में आलोचना की है; अब उन्होंने बुद्धि की क्रिया के संबंध में आलोचना आरंभ की । इस अंश का नाम है बुद्धि का अनुभव-निरपेक्ष विश्लेषण (Transcendental Logic) ।

काण्टके अनुसार बुद्धि के अन्तर्गत दो क्रियाएं हैं । पहिला है मन के द्वारा गृहीत संवेदनों को समन्वित कर वाक्य का उत्पादन, और दूसरा है वाक्यों (Judgment) को पुनः समन्वित कर सार्विक भाव (Universal Ideas) का उत्पादन । बुद्धि की इन दोनों क्रियाओं को यथाक्रम कहा जा सकता है "चिन्तन" और "मनन" । अतएव बुद्धि के पूर्ण विश्लेषण के लिये, बुद्धि की इन दोनों क्रियाओं, —"चिन्तन" और "मनन"—का विश्लेषण करना होगा ।

चिन्तन का विश्लेषण
(Transcendental Analytic)

संवेदनों का समन्वय साधन कर विशिष्ट वस्तु के उत्पादन का नाम है "चिन्तन"। 'चिन्तन' की समस्या यह है कि किस प्रकार संवेदन के उपकरण, बुद्धि द्वारा संयोजित होकर, अर्थपूर्ण रूप में हमारे ज्ञान में प्रकाशित होते हैं।

मन की संवेदनग्राहिता में जैसे देश-काल का सांचा है, वैसे ही बुद्धि में भी कई एक सांचाएं हैं और इन्हीं सांचाओं के द्वारा संवेदनगण समन्वित और अर्थपूर्ण हो पाते हैं। यूनानी दार्शनिक आरिस्टॉटल के समय से ही बुद्धि के इन सांचाओं का नाम दिया गया है 'सार्वभौमिक धारणा' (Categories)। काण्ट ने बुद्धि का विश्लेषण कर यह दिखलाने की चेष्टा की कि इसमें सार्वभौमिक धारणाएं कितनी हैं। मन की संवेदनग्राहिता में ऐसी कोई समन्वयी शक्ति (Synthetic Principle) नहीं, जिसके द्वारा संवेदन वस्तु का रूप ग्रहण कर सके। केवल बुद्धि की ही यह समन्वयी शक्ति है।

बुद्धि के विश्लेषण से यह देखा जाता है कि उसका काम है वाक्य की सृष्टि; क्योंकि बोध के बीच से ही वाक्य का जन्म होता है। इसलिये बुद्धि में समन्वय-शक्ति का संधान करने के लिये वाक्य का ही विश्लेषण कर देखना होगा। वाक्य (Judgment) का विश्लेषण कर हम देखते हैं कि हमारे सभी वाक्य कुछ विशिष्ट रूपों (Type) या प्रकृति को आश्रित किये हुए हैं। यह विशिष्ट रूप या प्रकृति निर्भर है कुछ आदि-धारणाओं के ऊपर। इन आदि या बुनियादी धारणाओं को ही "सार्वभौमिक धारणा" (Categories) कहा जाता है। काण्ट के अनुसार, इस प्रकार की सार्वभौमिक धारणाओं को आश्रित कर बारह प्रकार के वाक्य सम्भव हो सके हैं। जैसे—

(१) "सब मनुष्य नश्वर हैं"—इस वाक्य में सम्पूर्णता का बोध है।

(२) "कुछ लोग साधु हैं"—इस वाक्य में बहुत्व का प्रकाश है।

(३) "शंकर एक दार्शनिक हैं"—इस प्रकार के वाक्य में एकत्व का प्रकाश है।

(४) "मनुष्य दुर्बल है"—यह वाक्य स्वीकारवाचक है।

(५) "आत्मा जड़ पदार्थ नहीं"—यह निषेधवाचक वाक्य है।

(६) "आत्मा अविनश्वर है"—यह वाक्य सीमावाचक है।

(७) "सूर्य प्रखर है"—यह वाक्य द्रव्यगुण सम्बन्ध वाचक है।

(८) "ज्वर बढ़ने से ताप बढ़ता है"—यह कार्य-कारण सम्बन्ध वाचक वाक्य है।

(९) "या तो विद्रोह करो, या तो सहन करो"—पारस्परिक सम्बन्ध वाचक।

(१०) "यह पुस्तक सम्भवतः रोचक है"—सम्भव-असम्भव वाचक वाक्य।

(११) "भारत दरिद्र है"—यह अस्ति-नास्तिवाचक वाक्य है।

(१२) "प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है"—यह अनिवार्यता तथा आपतिकता वाचक वाक्य है।

उल्लिखित द्वादश वाक्य जिन द्वादश सार्वभौमिक धारणाओं को प्रकाशित करते हैं, विचार कर देखा जाय तो उनको चार मुख्य सार्वभौमिक धारणाओं के अन्तर्गत किया जा सकता है। "सम्पूर्णता, 'बहुत्व', एकत्व', ये परिमाणवाचक हैं। "वास्तविकता", "निषेध", "सीमा"—ये गुणवाचक हैं; द्रव्यगुण, कार्य-कारण और पारस्परिक सम्बन्ध—ये सम्बन्धवाचक हैं; और "सम्भाव्य—असम्भाव्य" "अस्ति-नास्ति" तथा "अनिवार्यता-आपतिकता" ये प्रकारवाचक हैं। इसलिये काण्ट के मतानुसार बुद्धि की चार सार्वभौमिक धारणाएं हैं—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इनमें भी सर्वोपरि सार्वभौमिक धारणा है, सम्बन्ध की धारणा (Relation)।

परिमाण गुण या प्रकार, ये अन्त तक एक सम्बन्ध को ही प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः वाक्य मात्र ही किसी सम्बन्ध का प्रकाशक है। किसी सम्बन्ध के प्रकाश का नाम ही वाक्य है।

बुद्धिगत जिन चार सार्वभौमिक धारणाओं का उल्लेख किया गया, काण्ट ने अब यह दिखलाने की कोशिश की, कि इनको आश्रित कर ही जगत के सम्बंध में हमारा ज्ञान सम्भव होता है। बुद्धिगत इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के न होने पर हमारा ज्ञान सार्थक नहीं हो सकता था। ज्ञान के प्राथमिक उपादान, देश और काल द्वारा सीमित संवेदन के रूप में प्रत्यक्षगोचर होने पर, पुनः इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के मध्य से, विशिष्ट वस्तुओं के रूप में हमारे निकट प्रकाशित होते हैं।

परन्तु हमारे ज्ञान में जिस जगत को हम पाते हैं, वह तो असंख्य विभिन्न वस्तुओं का समावेश मात्र नहीं है। पारस्परिक सम्बन्ध के बीच सब वस्तुओं ने मिलकर इस विश्व को बनाया है। वस्तु का जो परिचय है, वह जगत के इस वृहत् परिवार के एक अंश विशेष का ही परिचय है। वस्तु का जो अर्थ है, वह इसलिये कि जगत के अनेक वस्तुओं में से ही वह भी एक है। अर्थात् हमारी यह परिचित दुनिया, बहु और विचित्र वस्तुओं के बीच से भी, किसी मूलभूत एकता के नियम में सुविन्यस्त होकर एक अखण्ड रूप में प्रकाशित है। किन्तु अब प्रश्न यह है कि इस ऐक्य का नियम कहां से आया? बुद्धि के अन्तर्गत जो चार सार्वभौमिक धारणाएं हैं, वे तो संवेदनों का समन्वय कर विशेष वस्तुओं की सृष्टि करते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। वे तो सांचे मात्र हैं, वस्तुओं को रूपदान करना ही उनका काम है। वस्तुओं के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध के बीच से उनको एक अखण्ड जगत के रूप में

प्रकाशित करने की शक्ति उनकी रही है। फिर भी हमारा जगत बहु के बीच एक के रूप में ही प्रकाशित है। इसलिये काण्ट के मतानुसार हमारे अन्दर बुद्धि की चार सार्वभौमिक धारणाओं के अतिरिक्त एक और तत्व भी है, जिसके द्वारा विभिन्न और विचित्र वस्तुमय यह जगत एक सुविन्यस्त अखंड के रूप में हमारे ज्ञान के सम्मुख मूर्त हो उठता है। ज्ञान का धर्म असंलग्न विच्छिन्न रूप में देखना नहीं है, बल्कि एक अविच्छिन्न सम्पूर्ण के रूप में देखना है। ज्ञान की यह पूर्णता की दृष्टि से किस प्रकार संभव है? काण्ट के अनुसार यह सम्भव है एक मूल तत्व के कारण। यह मूलतत्व उन चारों सार्वभौमिक धारणाओं की सहायता से खण्ड के बीच अखण्ड का, अपूर्ण के बीच पूर्ण का सन्धान देता है। इस मूलतत्व को आश्रित कर ही हमारा ज्ञान सफल होता है। इसको आश्रित कर ही हमारा सब अनुभव, हमारा प्रत्यक्ष सम्भव होता है। काण्ट ने इसको कहा है "पराप्रत्यक्ष का ऐक्य" (Transcendental Unity of Apperception)। पराप्रत्यक्ष (perception) ही प्रत्यक्ष (apperception) को सार्थक बनाता है। यह पराप्रत्यक्ष तत्व ही ज्ञाता को यह ज्ञान कराता है कि वह ज्ञाता है। अर्थात् यह जो 'मैं' अनुभव करता हूं, संकल्प करता हूं—यह 'मैं' इस परा-प्रत्यक्ष तत्व को केन्द्रित कर ही स्थिर है। जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य जीवन की असंख्य विचित्र अनुभूतियों की पुष्पपुन्ज को जो सूत्र माला के रूप में गुहता है वह यही 'मैं' का बोध है। जो 'मैं' शिशुकाल में वर्णमाला की शिक्षा ग्रहण करता था, वह यही 'मैं' अब दर्शन का विचार कर रहा है। अनुभव का परिवर्तनशीलता के बीच एक अपरिवर्तित अनुभवकारी स्थिर है।

परन्तु यहां एक बात का स्मरण रखना होगा। ऊपर जिस 'मैं' की

बात कही गई है, वह व्यक्तित्ववाचक नहीं, वह सार्वभौमिक है। काण्ट के अनुसार व्यक्तित्ववाचक 'मैं', शुद्ध 'मैं' नहीं है, वह शरीर और इन्द्रिय की सीमाओं में आबद्ध है। परन्तु पराप्रत्यक्ष का 'मैं' शुद्ध 'मैं' है, यह व्यक्तित्व की सीमा के बाहर है। यह 'व्यक्ति–मैं' नहीं है; 'व्यक्ति–मैं' का सत्य व्यक्ति में ही सीमित है, उसका सार्वभौमिकत्व नहीं है। परन्तु 'विश्व–मैं' जगत के मूलतत्व के रूप में होने के कारण उसका सत्य सार्वभौमिक है। यह 'विश्व–मैं' होने के कारण ही 'व्यक्ति–मैं' का अस्तित्व सम्भव है। यह शुद्ध मैं ही वास्तविक ज्ञाता है। शुद्ध–मैं कभी ज्ञेय पदार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि इसी के द्वारा जानना सम्भव है। और जिसके द्वारा जानने का काम सम्भव होता है, उसे कौन जान सकता है। सूर्यालोक में पृथ्वी की यावतीय वस्तु दृष्टि-गोचर होती है; कोई यदि सूर्य को दृष्टिगोचर करने के लिए आलोक का सन्धान करता है, तो वह जिस प्रकार वातुलता है, इस शुद्ध–मैं या परम-ज्ञाता को जानने का प्रयास भी उसी प्रकार वातुलता है। व्यक्ति–मैं को ज्ञेय वस्तु के रूप में जाना जा सकता है, परन्तु शुद्ध–मैं या परम ज्ञाता ज्ञान का ही सार्वभौमिक मूलतत्व है। यह सनातन और सब ज्ञान का मूल है। इस सार्वभौमिक और सनातन ज्ञानतत्व के कारण ही, प्रत्येक मनुष्य के जगत का भिन्न-भिन्न रूप नहीं है। ज्ञान का यह मूलतत्व ही सब मनुष्यों की आत्म सचेतनता के बीच प्रकाशित होता है। यही कारण है कि मनुष्यों में विचारों का परस्पर आदान–प्रदान सम्भव है। इस पराप्रत्यक्ष का सार्व-भौमिक तत्व (Transcendental Unity of Apperception) बुद्धि के बीच ही कार्य करता है। यही कारण है कि बुद्धि की 'चिन्तन' क्रिया में जिस वाक्य की सृष्टि होती है, उसमें भी सार्वभौमिकता होती है। परन्तु

वाक्य (Judgment) चार सार्वभौम धारणाओं का ही विविध प्रकाश है। इसलिये वाक्य यदि पराप्रत्यक्ष के सार्वभौमिक तत्व का प्रकाश करता है तो उन चार सार्वभौमिक धारणाओं की सार्वभौमिकता पराप्रत्यक्ष के कारण ही सम्भव है। अतएव पराप्रत्यक्ष का सार्वभौमिक तत्व ही बुद्धिगत चारों सार्वभौमिक धारणा के बीच से 'चिन्तन क्रिया' में वाक्य (Judgment) के रूप में आत्म प्रकाश करता है। यही कारण है कि चारों धारणाएं भी सार्वभौमिक हैं और वाक्य भी सार्वभौमिक है।

वाह्य जगत या प्रकृतिसे हम जो कुछ समझते हैं, वह है कुछ नियमानुवर्ती घटनाओं का संयोग। यह संयोग सम्भव हो सका है सार्वभौमिक धारणाओं के कारण। इसलिये सुनियन्त्रित और सुसम्बद्ध घटनावली के बीच से जिस जगत को हम देखते हैं, उसका नियन्त्रण और विन्यास उपयुक्त सार्वभौम धारणाओं के प्रभाव का परिणाम है। इसलिये जिन नियमों के बीच से प्रकृति अपने एकत्व को कायम रखता है, वह हमारी बुद्धिगत सार्विक धारणाओं की ही देन है। अर्थात् अपनी बुद्धिगत सार्विक धारणा के द्वारा प्रकृति की सृष्टि हम स्वयं करते हैं। वह हमारे मन की ही रचना है। परन्तु जिस नियमको आश्रित कर उसकी रचना होती है, वह किसी विशेष मन का नियम नहीं है। वह सार्वभौमिक है, जो सब मनुष्योंमें है। इसलिए जिस जगत की हम रचना करते हैं, वह सभी का एक ही जगत है।

अब हम यह समझ रहेहैं कि देश—काल के सांचे के अन्दर से हम संवेदनों को प्राप्त कर रहे हैं और बुद्धिकी सार्वभौमिक धारणाओं द्वारा समन्वित होकर ये संवेदन वस्तु का रूप ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये हम देख रहे

हैं कि ज्ञान में संवेदनग्राहिता (Sensibility) और बुद्धि (Understanding) का सहयोग है। परन्तु संवेदनग्राहिता और बुद्धि, ये समधर्मी नहीं हैं, इनकी प्रकृति एक दूसरे से भिन्न है। संवेदनग्राहिता के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है, परन्तु बुद्धि का ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव ऐसे क्षेत्र में इन दो भिन्न धर्मियोंकी सहयोगिता किस प्रकार सम्भव है ? जो प्रत्यक्ष का विषय है (Perceptual Content) वह प्रत्यय का विषय (Conceptual Content) नहीं। तथापि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष के तथ्य के साथ प्रत्यय के तथ्य का कोई विरोध नहीं है। इसलिये मन की संवेदनग्राहिता के साथ बुद्धि का निश्चय ही कोई योगसूत्र है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों की सहयोगिता सम्भव हो सकी है। काण्ट के अनुसार यह योगसूत्र है, समन्वयी कल्पना (Transcendental Synthesis of Imagination)। वस्तुतः यह कोई पृथक् तत्व नहीं है; यह पराप्रत्यक्ष का ही एक प्रकाश है। यह भी बुद्धि की सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय के बीच से प्रकाशित होती है। अपरिणामी ज्ञाता के साथ परिवर्तनशील इन्द्रियानुभूति का सम्बन्ध स्थापित कर यह समन्वयी कल्पना ही हमारे इस जगत की सृष्टि में सहायता करती है।

परन्तु किस प्रक्रिया से इस प्रकार जगत की सृष्टि होती है, यह भी देखना होगा। काण्ट ने अब इसकी व्याख्या की चेष्टा की। काण्ट के अनुसार इन्द्रियानुभूति जिसकी सहायता से सार्विक धारणाओं के सांचे में ढलकर वस्तुमय जगत की सृष्टि करती है, वह है 'काल।' काल की विभिन्न अभिव्यक्तियों के बीच सार्वभौमिक धारणाएं व्यक्त होती हैं। जैसे मिट्टी में से विभिन्न रसों को एक प्रच्छन्न शक्ति उद्भिज के पत्र, पल्लव, फूल और

बीज, इन चार रूपों के बीच से प्रकाशित करती है, काल भी उसी प्रकार एक प्रच्छन्न शक्ति की नाईं विभिन्न इन्द्रियानुभूतिओं को परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार, इन चार सार्वभौम धारणाओं के बीच प्रकाशित करता है और उसी के परिणामस्वरूप हमारी दुनिया की सृष्टि होती है।

अब हमने यह स्पष्ट रूप से समझा कि हमारी बुद्धि में जो सार्विक धारणा चतुष्टय हैं, वे ही हमारे जगत की सृष्टि करती हैं। सृजन शक्ति सम्पन्न इन चार सार्वभौमिक धारणाओं (Categories) का स्वरूप क्या है ? काण्ट ने इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। चार सार्वभौमिक धारणाओं से, अनिवार्यरूप से चार सार्वभौमिक नियमों की उत्पत्ति हुई है। इन नियमों के द्वारा ही इन सार्वभौमिक धारणा चतुष्टय की प्रकृति का ज्ञान होता है।

प्रथम है परिमाणवाचक धारणा। इस धारणा का स्वरूप यह है कि यह इन्द्रियलब्ध यावतीय अनुभूति को परिमाण के रूप में ही हमारे निकट प्रकाशित करता है। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियानुभूति देश और काल के कुछ अंश पर अधिकार करेगी ही। इसलिये जो वस्तु इन्द्रियगोचर है, उसका परिमाण अवश्य होगा। परिमाण होने से ही वह क्षुद्रतर अंश में विभाज्य होगा। अतएव परमाणु (Atom) यदि अविभाज्य हो, तो समझना होगा कि उसका परिमाण नहीं है और इसलिए वह इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता। इन्द्रियग्राह्य होने से ही, वह देश–काल के कुछ अंश पर अधिकार करेगा और तब उसका विभाजन भी क्षुद्रतर अंश में सम्भव होगा।

द्वितीय है, गुणवाचक धारणा। इसका स्वरूप यह है कि प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के पदार्थत्व को यह विशिष्टता प्रदान करती है। अर्थात् इन्द्रिय-

ग्राह्य सब पदार्थों की एक स्वकीयता अवश्य होगी। पदार्थों की स्वकीयता नहीं होगी, तथापि वे इन्द्रियगोचर होंगे, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये शून्य (Void) नाम का कोई इन्द्रियग्राह्य पदार्थ नहीं है।

तृतीय है सम्बन्धवाचक धारणा। इस धारणा का स्वरूप यह है कि परस्पर सम्बन्धित रूप में ही जगत के सब पदार्थ हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। सब परिवर्तन के बीच भी पदार्थ अपने पदार्थत्व को स्थायीत्व प्रदान करता है। देश, काल के बीच अवस्थान कर सभी पदार्थ परस्पराश्रयी हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध के बीच से ही उनका आत्म-प्रकाश है। कार्य-कारण सम्बन्ध की व्याख्या काण्ट ने नये रूप में की है। यह कार्य-कारण सम्बन्ध बुद्धिगत सार्विक धारणा से उद्भूत है, इसलिये यह अनुभव का फल नहीं हो सकता। यह कार्य-कारण सम्बन्ध मनुष्य बुद्धि के अन्तर्गत है, इसीलिये मनुष्य का अनुभव सम्भव हो सका है। यदि बुद्धि की धारणा में कार्य-कारण सम्बन्ध का अस्तित्व न होता तो अनुभव सार्थक नहीं हो सकता। ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध अनुभव-प्रसूत है, परन्तु काण्ट के अनुसार यह यथार्थ नहीं है। इसके अलावा यह भी सत्य नहीं कि इन्द्रियग्राह्य घटनाओं के क्रम से कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि 'क्रम' का हमारा जो अनुभव है, उसका 'क्रमत्व' बुद्धिगत सार्विक धारणा की कार्य-कारण विधि का वहिःप्रकाश छोड़ और कुछ नहीं है। कार्य-कारण सम्बन्ध हमारे अन्दर है, इसीलिये हमारे लिये क्रम का ज्ञान सम्भव है। वस्तुतः सम्बन्ध का कोई भी ज्ञान इन्द्रियलब्ध नहीं दे सकता। क्योंकि सम्बन्ध है बुद्धिगत (A Priori) सार्विक धारणा। इस बुद्धिगत सम्बन्ध की धारणा ने ही हमारी इन्द्रियलब्ध ज्ञान को सम्भव किया है। बुद्धिगत

प्रकारके उपादान हैं। वाह्यजगत से इन्द्रिय मार्ग पर आगत इसका प्राथमिक उपादान है और बुद्धि की वह निजी सृजन शक्ति जो इस प्राथमिक उपादानको समन्वित तथा अर्थ पूर्ण कर एक वस्तुमय जगतके रूप में हमारे सामने उपस्थापित करता है, वह है द्वितीय उपादान। बुद्धिकी यह शक्ति सार्वभौमिक है, इसीलिये हमारा ज्ञान भी सार्वभौमिक तत्वके ऊपर प्रतिष्ठित है। गणित का सत्य जो हमारे निकट सार्विक और अनिवार्य जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि गणित, देश और काल, मनुष्य के वुद्धिगत इन दो सार्वभौमिक तत्वों पर प्रतिष्ठित है। वैज्ञानिक तथ्योंमें जो सार्विकता और अनिवार्यता है, उनका कारण भी बुद्धिगत चारों सार्वभौम धारणाएं हैं।

परन्तु यह स्वीकार करना ही होगा कि इन्द्रियमार्ग से उपस्थित होने पर ही वाह्यजगतके तथ्य सार्विक और अनिवार्य रूप ग्रहण करते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि इन्द्रियमार्ग पर उपस्थित होनेके पहिले उन तथ्योंका क्या स्वरूप है तो इसका उत्तर हम नहीं दे सकेंगे। क्योंकि हमारे जानने की प्रक्रिया के साथ-साथ वे रूप ग्रहण कर लेते हैं। हमारे लिये शुद्ध वस्तु या वस्तुस्वरूप (pure thing, thing-in-itself) के जानने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये, ज्ञान का स्वरूप विचार करते हुए हमारे ज्ञान की सीमाएं भी निर्दिष्ट हो जाती हैं। ज्ञान कहने से ही उन वस्तुओं का ज्ञान समझा जायगा, जो हमारे इन्द्रिय और बुद्धि की पकड़ में आती हैं। इसलिये इन्द्रियग्राह्य जगत (Phenomenal World) के पीछे एक इन्द्रियातीत जगत (Noumenal World) रह जाता है।

काण्ट ने अब यह प्रश्न उठाया कि क्या इस इन्द्रियातीत जगतके जानने

का कोई भी उपाय नहीं है ? मन की संवेदनग्राहिता या बुद्धि के द्वारा इस अतीन्द्रिय जगत को जाना नहीं जा सकता। काण्ट के अनुसार देशकाल के बाहर इस अतीन्द्रिय जगत को बुद्धि के द्वारा इसलिये नहीं जाना जा सकता है कि बुद्धि खण्डधर्मी (Discursive) है। एकमात्र अखण्ड-धर्मी अपरोक्ष अनुभूति के द्वारा ही इस जगत को जाना जा सकता है। इस अतीन्द्रिय जगत के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह इन्द्रिय के परे है। हमारे निकट यह एक सीमावाचक धारणा मात्र है। काण्ट के अनुसार इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे इसके कारण स्वरूप, अनुभव-निरपेक्ष और एक जगत को हमें स्वीकार करना ही होगा। जैसे बहिर्जगत के सम्बन्ध में, उसी प्रकार अन्तर्जगत के लिए भी कहा जा सकता है। जिस 'मैं' को हम जानते हैं वह है देश-कालद्वारा सीमित 'मैं' अनुभवाश्रयी 'मैं'। जो 'मैं' हमारे अनुभव को सार्थक बनाता है, क्या हम उस अतीन्द्रिय जगत के 'मैं' या आत्मा को जान सकते हैं? काण्ट ने इस प्रश्न का उत्तर अपने पाठकों पर ही छोड़ दिया है।

मनन का विश्लेषण
(Transcendental Dialectic)

मन की संवेदनग्राहिता और 'चिन्तन' का विश्लेषण कर हमने देखा कि गणित और पदार्थ विज्ञान कैसे सम्भव हो सके हैं। अब 'मनन' का विश्लेषण कर काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि अतिविज्ञान (Metaphysics) किस प्रकार सम्भव है।

ईश्वर नामकी कोई वस्तु है या नहीं, मनुष्य आत्मनियन्त्रित है अथवा

वाह्य जगत की घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है, मनुष्य में कोई अविनश्वर वस्तु है या नहीं—काण्ट के अनुसार यही अतिविज्ञान की आलोचना के विषय हैं। परन्तु ये सब तो अतीन्द्रिय जगत की बातें हैं। हमने पहिले ही देखा है कि हमारा कुल ज्ञान इन्द्रियग्राह्य जगत तक ही सीमित है। हमारा बुद्धि-विचार उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसलिये यदि अतिविज्ञान की आलोचना के विषय अतीन्द्रिय जगत के ही तथ्य हैं, तो फिर हमारे लिये अतिविज्ञान का ज्ञान असम्भव है।

काण्ट ने यहां मनुष्य के अन्तर्जीवन के एक परम रहस्य का उल्लेख किया है। मनुष्य के अंदर है, एक अनन्त अभीप्सा; यह है अनुभव की सीमा को पार करने की एक व्याकुलता। अर्थात् इन्द्रियग्राह्य जगत तो हमारा परिचित है, परन्तु इस परिचित जगत को लेकर हम तृप्त नहीं रह पाते, जो अपरिचित है, जो इन्द्रियगोचर नहीं है, उसके साथ परिचित होने के लिये मनुष्य के अन्तर में एक तृष्णा है। जिसे हम अनुभव में नहीं पाते, उसी को अनुभव के अन्तर्गत करने की यह व्याकुलता है। असीम को सीमान्तर्गत करने का यह आग्रह मनुष्य के अन्तर का एक परम रहस्य है। जिसको नहीं पहचानते, उसको 'मानों पहचान रहे हैं' इस रूप में लेने की प्रवणता मनुष्य के अन्दर चिरकाल से है। इसलिये, यद्यपि अतिविज्ञान के विषय मनुष्य के इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं हैं, तथापि उनकी आलोचना और उन पर विचार करने का आग्रह मनुष्य ने सदा प्रकाश किया है। अतएव काण्ट के अनुसार अतिविज्ञान की आलोचना विज्ञान की भांति न करते हुए भी, मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवणता के तौर पर इसकी आलोचना की जा सकती है।

काण्ट ने मनन के विश्लेषण के द्वारा यही दिखलाया है कि अतिविज्ञान

(Metaphysics) की आलोचना किस प्रकार सम्भव है। अर्थात् मनन के विश्लेषण में इसी की खोज की चेष्टा है कि मनुष्य के अंतर में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो केवल इन्द्रियग्राह्य जगत का ही संगठन नहीं करती, बल्कि इस जगत को पार करने का भी प्रयास करती है। संवेदनग्राहिता (Sensibility) और बुद्धि (Understanding) मनुष्य की इस प्रवणता की व्याख्या नहीं कर सकतीं। काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि बुद्धि के परे भी मनुष्य में एक ऐसी शक्ति है, जिसका फल है इस प्रकार की प्रवणता। इसको कहा जा सकता है प्रज्ञा (Reason)। काण्ट ने प्रज्ञा की व्याख्या कर यह दिखलाया है कि अतीन्द्रिय जगत ही इसकी आलोचना का विषय है; परन्तु अनुभव के बाहर इस अतीन्द्रिय जगत को जानने की चेष्टा करते हुए यह उसको भी इन्द्रियग्राह्य वस्तु की भांति अनुभव के दायरे में डाल देती है। इसका परिणाम यह होता है कि अतीन्द्रिय जगत के अतीन्द्रियत्व का भी लोप हो जाता है। अतएव प्रज्ञा का यह प्रयास व्यर्थ हो जाता है और सत्य की उपलब्धि में असमर्थ होकर हम कुछ भ्रान्त धारणाओं का अवलम्बन कर लेते हैं।

प्रज्ञा (Reason) के साथ बुद्धि (Understanding) का पार्थक्य है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य है अनुमान के द्वारा सिद्धान्त पर पहुंचना, तथापि बुद्धि पहुंचती है साक्षात् अनुमान (Immediate Inference) के द्वारा, और प्रज्ञा, परोक्ष अनुमान (Mediate Inference) के द्वारा। प्रज्ञा की क्रिया भी समन्वय साधन है; परन्तु यह बुद्धि के समन्वय के भी ऊपर है। जिन नियमों के आधार पर बुद्धि की

समन्वय-क्रिया सम्भव होती है, प्रज्ञा, उन मूल नियमों के समन्वय की चेष्टा करता है। इस समन्वय का लक्ष्य है परम पूर्णता (Absolute Totality) ज्ञात या अज्ञात विश्व की कोई वस्तु इसके बाहर न होगी। मनुष्य के अनुभव के अन्दर जो कुछ है, या जो कुछ इसके बाहर है, इन्द्रियग्राह्य अथवा इन्द्रियातीत, सब कुछ को लेकर है यह परम पूर्णता। अतएव अनुभव की सीमा के अन्दर इसको पकड़ने की चेष्टा व्यर्थ है। परन्तु इस परम पूर्णता के सन्धान में प्रज्ञा इसको अनुभव की सीमा के अन्दर लाने की चेष्टा करती है। यह चेष्टा करती है, इसीलिये परम पूर्णता, हमारे अनुभव में प्रकाशित न होकर मात्र अनुभव-निरपेक्ष धारणा के रूप में (Transcendental Idea) हमारे सामने उपस्थित होती है। यह है प्रज्ञा की शुद्ध धारणा। इन्द्रियग्राह्य जगत में इसका कोई प्रतिरूप नहीं है। इसको हम वस्तु रूप में नहीं पाते हैं, बल्कि पाते हैं भावरूप में।

उक्त परमपूर्णता को जानने के लिये मनुष्य में जो प्रवणता है, वह तीन विभिन्न क्षेत्रों में आत्मप्रकाश करती है। प्रथम—हमारे अन्तर्राज्य के अनुभव को पूर्णतमरूप से जानने की चेष्टा। वास्तव में यह पूर्णता सम्भव नहीं, इसीलिये यह एक आदर्श मात्र रह जाता है। अन्तर्राज्य के इस पूर्णता के आदर्श से ही आत्मा के सम्बन्ध में हमारी धारणा की उत्पत्ति है। द्वितीय—वाह्यजगत की यावतीय घटनाओं का सम्पूर्ण ज्ञान। यह सम्पूर्णता भी आदर्श मात्र है। इसी से हमको मिली है अखिल विश्व की धारणा। तृतीय—वाह्यान्तर सब कुछ का ज्ञान। इस पूर्णतम सर्वग्रासी ज्ञान के आदर्श से उत्पन्न होती है, ईश्वर की धारणा। इसलिये हम देखते हैं कि प्रज्ञा ने हमें दिया है, (क) आत्मा की धारणा—और इससे जन्म हुआ है मनो-

विज्ञान (Rational Psychology) का; (ख) विश्व-प्रकृति के सम्बन्ध में धारणा, जिससे उत्पन्न हुआ है प्रकृति-विज्ञान (Rational Cosmology); (ग) ईश्वर के सम्बन्ध में धारणा और इससे उद्भव हुआ है, धर्मशास्त्र (Rational Theology) का। मनन का विश्लेषण कर काण्ट ने यह विचार किया है कि मनोविज्ञान, प्रकृति-विज्ञान और धर्म-विज्ञान सचमुच हमें आत्मा, जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान दे सकते हैं या नहीं।

(क) काण्ट के अनुसार जिस युक्तिबल पर मनोविज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि आत्मा, अजड़, अविनश्वर और अविभाज्य है, वह युक्ति ठीक नहीं, वह भ्रमात्मक सिद्धान्त (Paralogisms) मात्र है। मनोविज्ञान जानना चाहता है "शुद्ध मैं" या परम ज्ञाता के स्वरूप को। परन्तु यह तो सम्भव नहीं। ज्ञाता को जानने के प्रयास में, ज्ञाता, ज्ञाता नहीं रह जाता। उसी क्षण वह ज्ञेय पदार्थ के अन्तर्भुक्त हो जाता है, और ज्यों ही वह ज्ञेय पदार्थ हुआ त्यों ही वह फिर ज्ञाता नहीं रह जाता है। अर्थात् 'शुद्ध मैं' या परम ज्ञाता सब समय चारों सार्वभौम धारणाओं (Categories) के पीछे है; इसको जानने की चेष्टा करने पर ही उन चार सार्वभौम धारणाओं को सामने रखना पड़ेगा, और उस अवस्था में सार्वभौम धारणाओं के सांचे में ढाल कर ही उसका प्रकाश होगा। परिणामस्वरूप इसकी शुद्धता नहीं रहेगी, यह 'व्यक्ति मैं' हो जायगा। मनोविज्ञान ने सदा इस 'व्यक्ति मैं' को ही परम ज्ञाता मान लिया है। ज्ञान की विशेषता यदि ज्ञाता या ज्ञेय पदार्थ के ऊपर निर्भर है, तो उस ज्ञान में परम ज्ञाता को प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि परमज्ञाता सब सम्बन्ध के अतीत है, और इसलिये वह परम

शुद्ध है। "तर्क-विचार का मैं" (Logical Self) सम्बन्ध-आश्रित है; परन्तु 'शुद्ध मैं' या अतिविज्ञान का 'मैं' (Metaphysical Self) सम्बन्ध के अतीत है। इन दोनों 'मैं' में बड़ा पार्थक्य है। देकार्ते ने कहा था —"मै विचार करता हूं, इसलिये मैं हूं"। काण्ट के अनुसार देकार्ते यह नहीं समझ सके कि 'मैं विचार करता हूं' इसका 'मैं' और 'मैं हूं' इसका 'मैं' एक नहीं है। प्रथम है तर्क-विचार का 'मैं', और दूसरा है अतिविज्ञान का 'मैं'। इसलिये देकार्ते ने वास्तव में तर्क-विचार के 'मैं' के अस्तित्व को ही प्रमाणित किया है, 'शुद्ध मैं' या परम ज्ञाता के अस्तित्व को वह प्रमाणित नहीं कर सके हैं। इसलिये हम देखते हैं कि 'शुद्ध मैं' के स्वरूप को जानने का कोई उपाय नहीं है। यह हमारे निकट अज्ञेय है।

(ख) प्रकृति तत्व या विज्ञान के सिद्धान्त में भी हम युक्ति प्रदर्शन की चेष्टा में इसी प्रकार की समस्या का सम्मुखीन होते हैं। एक घटना को जानकर विज्ञान को तृप्ति नहीं मिलती, उस घटना के साथ संश्लिष्ट अन्य घटनाओं के जानने का उसे आग्रह होता है, और वह आग्रह तब तक प्रशान्त नहीं होता, जब तक अखिल विश्व की समस्त घटनाओं को सम्पूर्ण रूप से वह जान नहीं पाता। परन्तु प्रकृति का इस प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार की सम्पूर्णता, ज्ञान की सीमा के रूप में ही रह जाती है, वास्तव अनुभव की पकड़ में वह नहीं आती। विज्ञान प्रकृति को चारों सार्वभौम धारणाओं (Categories) के बीच ही जानना चाहता है। पहिली बात यह है कि देश और काल की सीमा के अन्तर्गत इसकी परिमाणगत विशिष्टता को वह देखना चाहता है और दूसरी बात यह है कि प्रकृति की गुणगत विशिष्टता को वह देखना चाहता है। अर्थात् जड़ का स्वरूप क्या है, उसको क्षुद्रतर अंशों

में विभाजित किया जा सकता है, या नहीं, इत्यादि । तीसरा कार्य-कारण सम्बन्धगत विशिष्टता । इसमें विज्ञान की चेष्टा है, कार्य के पीछे जो कारण है, उनको पूर्णरूप से जानना । चौथी बात है प्रकृति की प्रकारगत विशिष्टता । असंख्य, विचित्र जितने प्रकार की वस्तु जगत में हैं, उनका सम्पूर्ण ज्ञान ।

प्रकृति को पूर्वोक्त सम्पूर्ण रूप में जानने की चेष्टा में हमारी बुद्धि कुछ परस्पर-विरोधी मतों (Antinomies) की सृष्टि कर बैठती है । और यह भी एक समस्या का विषय है कि ये परस्पर-विरोधी मत, विरोधी होने पर भी यथार्थ प्रतीत होते हैं । अर्थात् युक्ति के प्रयोग द्वारा जैसे यह कहा जा सकता है कि विश्व, देश और काल की सीमाओं से आवद्ध है, दूसरी, ओर युक्ति के प्रयोग के द्वारा यह भी कहा जा सकता है कि विश्व, देश और काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं है । जड़ को क्रमपूर्वक विभक्त किया जा सकता है, यह सिद्धान्त भी जिस प्रकार सम्भव है, उसको इस प्रकार विभक्त नहीं किया जा सकता, यह सिद्धान्त भी उतना ही सम्भव है । इसी प्रकार, मनुष्य का संकल्प स्वाधीन है, और नहीं भी है—वह बाहरी घटनाओं द्वारा नियन्त्रित है; जगत के मध्य में या बाहर इसका एक परिचालक है, और फिर ऐसा कोई परिचालक नहीं भी है ।

अतएव हम देखते हैं कि प्रज्ञा का स्वभाव ही है पूर्णता को जानने का प्रयास, विश्व की समग्रता को अखंडरूप में अपने मातहत में करने का एकान्त आग्रह । परन्तु बुद्धि अपनी प्रकृति के अनुसार जब-जब जानने की चेष्टा करती है, तो वह खण्डित रूप में ही । अर्थात् मनुष्य में प्रकृति की समग्रता को अखण्डरूप में जानने की अनुरक्ति जिस प्रकार है, जानने के प्रयास काल में

उसको खण्डित करने की अनिवार्यता भी उसी प्रकार है। इस प्रकार प्रज्ञा (Reason) और बुद्धि (Understanding) के बीच एक विपरीत मुखीनता है; और इसी के परिणामस्वरूप परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की उत्पत्ति सम्भव है।

काण्ट के अनुसार ये परस्पर-विरोधी सिद्धान्त, विरोधी होने के कारण ही मिथ्या या मन की कल्पनामात्र नहीं है। इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच से ही हम देख पाते हैं कि हमारी प्रज्ञा (Reason) अनुभव की सीमा को निरन्तर पार करने की चेष्टा कर रही है। समस्या का कारण ही यह है कि हम पदार्थ के स्वरूप को जानना चाहते हैं, परन्तु उसको देश-काल के सांचे में डालकर ही देखना चाहते हैं। हम विश्व के अखण्ड रूप को आयत्त में लाना चाहते हैं, परन्तु इस आयत्त करने की पद्धति में ही उसको खण्डित कर डालते हैं। इसलिये प्रज्ञा, मूर्त रूप में किसी सत्य वस्तु को लाभ करने में हमें सहायता प्रदान नहीं करती, यह केवल मार्ग का निर्देश करती है।

पृथ्वी की कोई घटना अन्य किसी घटना के द्वारा नियन्त्रित है या नहीं, काण्ट ने इस विषय की विशद आलोचना की है। पृथ्वी की सभी घटनाएं कार्य-कारण संबंध को स्वीकार कर चलती हैं। परंतु यह कल्पना के अतीत है कि मनुष्य जीवन के सब क्षेत्रों में इस प्रकार घटना द्वारा यन्त्र की भांति नियन्त्रित होना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मनियन्त्रण का कोई स्थान अवश्य है। लेखक जब लिखता है तो क्या वह जगत की घटनावली के परस्पर सम्बन्ध का परिणाम मात्र है? क्या इसमें उसकी स्वाधीन इच्छा का कोई प्रभाव नहीं है? ऐसा ख्याल हो सकता है कि उत्ताप के आधिक्य

का अभाव, अन्य लोगों की अनुपस्थिति, शरीर का स्वस्थ होना, इत्यादि घटनाएं एकत्र होकर लेखक के लेख रूप कार्य को घटित करते हैं; अर्थात् उनके लिखने की इच्छा को जागृत कर लेख को घटना में परिणत करते हैं। परन्तु ऐसा भी तो हुआ है कि उन कारणों के विद्यमान होते हुए भी लेखक के लिखने की प्रवृत्ति जागृत नहीं हुई, या यह केवल इच्छामात्र रह गई, लेख कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका है। इससे जान पड़ता है कि स्वतन्त्र इच्छा या संकल्प नाम की कोई वस्तु अवश्य है, जो बाहरी घटनाओं द्वारा नियन्त्रित नहीं है।

काण्ट ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि कार्य-कारण का नियन्त्रण जितना सत्य है, स्वाधीन संकल्प भी उतना ही सत्य है। यदि इन्द्रियग्राह्य जगत ही एकमात्र सत्य होता तो कार्य-कारण की अवश्यम्भाविता और स्वाधीन इच्छा ये परस्पर विरोधी होतीं। परन्तु ऐसा तो है नहीं। इस इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे है अतीन्द्रिय जगत। इन्द्रियग्राह्य जगत में कार्य-कारण का नियम ही एकमात्र नियम है; यह जगत कार्य-कारण के नियम को ही प्रकाशित करता है। परन्तु अतीन्द्रिय जगत में कार्य-कारण का नियम अचल है। वह देश-काल की सीमा के बाहर है, इन्द्रियानुभूति की विधि वहां नहीं है। दृश्यमान जगत के मूल में यह जगत ही कारणरूप में वर्त्तमान है। यह कारणरूपी अतीन्द्रिय जगत ही, इन्द्रियग्राह्य जगत की घटना परम्परा में, कार्यरूप में प्रकाशित होता है।

अतएव इन्द्रियग्राह्य वस्तु के मूल में है, एक अतीन्द्रिय तत्व और उसी के बल पर इन्द्रियग्राह्य वस्तु का उद्भव होता है। इसलिये, काण्ट के अनुसार, कार्य-कारण विधि का, दो भिन्न रूप में विचार किया जा सकता है। कारण

रूप में यह अतीन्द्रिय है, परन्तु कार्य रूप में यह इन्द्रियग्राह्य है। इस प्रकार एक रूप में मनुष्य का स्वाधीन संकल्प प्राकृतिक घटनाओं का परिचालक है; और दूसरे रूप में यह प्राकृतिक घटनाओं द्वारा परिचालित है। वह अतीन्द्रिय तत्व, इन्द्रियग्राह्य वस्तु के रूप में हमारे निकट उपस्थित नहीं होता है। हमारे निकट उपस्थित वही होता है, जो इन्द्रियग्राह्य है। इन दो भावों को ग्रहण कर काण्ट ने विश्लेषण के द्वारा यह दिखलाने की चेष्टा की है कि स्वाधीन संकल्प और कार्य-कारण की अनिवार्यता, दोनों परस्पर विरोधी न होकर भी वर्तमान रह सकते हैं। इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के जगत की दृष्टि से देखा जाय तो जगत की सब घटनाएं कार्य-कारण नियम से बंधे हुए हैं। इसलिये मनुष्य के जो कार्य बाह्य जगत में घटनाओं के रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं, वे तो कार्य-कारण नियम के अधीन होंगे ही। स्वाधीन इच्छा से जिसको बोध होता है, वह इस इन्द्रियग्राह्य जगत की वस्तु नहीं है, इसलिये कार्य-कारण विधि के अधीन भी नहीं है। मनुष्य के क्षेत्र में व्यावहारिक जगत की कार्य-कारण विधि अतीन्द्रिय जगत के नियम का ही वहिः-प्रकाश है। अर्थात् अतीन्द्रिय जगत में जो कारणरूप में विद्यमान है, बाहर इन्द्रियग्राह्य जगत में वही कार्यरूप में प्रकाशमान है। काण्ट के अनुसार, इसी प्रकार दो जगतों में एक योगसूत्र है। मनुष्य इन दोनों जगतों का अधि-वासी है। मनुष्य की प्रज्ञा आत्मनियन्त्रित है, वह कार्य-कारण विधि को बिना स्वीकार किये भी चल सकता है। परन्तु प्रज्ञा परिचालित होते हुए भी जब कभी इन्द्रियग्राह्य जगत की घटना के रूप में कुछ प्रकाशित होगा, तब वह इन्द्रियग्राह्य जगत की कार्य-कारण विधि के भी अधीन होगा।

मनुष्य की प्रज्ञा आत्मनियन्त्रित या स्वाधीन है, इसीलिये प्रत्येक मनुष्य

में औचित्य-बोध है। यह औचित्य-बोध अनुभव का फल नहीं है, यह जन्मगत है। अर्थात् मनुष्य, मनुष्य होने के कारण ही, उसमें उचित अनुचित का बोध है। जागतिक घटनाएं केवल घटित होती हैं, घटित होना ही उनका लक्षण है,उनके औचित्य का प्रश्न ही नहीं उठता। औचित्य-बोध प्रज्ञा का निजी स्वभाव है। इसलिये काण्ट के अनुसार, मनुष्य में प्रज्ञा होने के कारण मनुष्य स्वाधीन कर्त्ता है, अर्थात् आत्मनियन्त्रित है। परन्तु उसका कार्य जब इन्द्रियग्राह्य जगत में घटना के रूप में प्रकाशित होता है, तो उस जगत की कार्य-कारण विधि के अन्तर्गत हो जाता है।

(ग) मनन के विश्लेषण के तीसरे अंश में काण्ट ने ईश्वर के सम्बन्ध में मनुष्य की धारणा की आलोचना की है। ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है, उसकी उत्पत्ति प्रज्ञा मे हुई है।

धर्मशास्त्र में ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये गये हैं, काण्ट के अनुसार वे व्यर्थ हैं; क्योंकि ईश्वर की एक धारणा होते हुए भी, उस धारणा का प्रतिरूप कोई पदार्थ, वास्तव में इन्द्रियग्राह्य जगत में नहीं है। कोई पदार्थ वास्तव में है, इसको स्वीकार करने का अर्थ है उसे हमारी सम्भाव्य अनुभव की समष्टि से युक्त करना। सब सम्भव अनुभव के पीछे अनुभव-निरपेक्ष एक पटभूमि है। यह पटभूमि है सत्ता की समग्रता की धारणा (Idea of the Sum Total of Reality)। हमारा जो कुछ प्रतिपाद्य है, वह इसी का अवलम्बन कर । सत्ता का यह समग्र रूप ही सभी सम्भाव्य खण्ड वस्तुओं का आश्रय है। समग्रता के कारण और सब सम्भावनाओं का आश्रय होने के कारण, वह एक है। सत्ता का समग्र रूप, जो एक है, वही ईश्वर है।

हमारे सब प्रतिपाद्यों का आश्रय, सत्ता के समग्र रूप का प्रतीक यह जो ईश्वर है, यह मनुष्य मन की एक अनिवार्य धारणा है। ईश्वर की इस धारणा का काण्ट ने नाम दिया है प्रज्ञा का आदर्श (Ideal of Pure Reason)। परन्तु अनिवार्य होने पर भी यह आदर्शमात्र है, इसकी कोई वास्तविकता नहीं है। इस आदर्श को वास्तव के रूप में ग्रहण करने को जाकर ही धर्मशास्त्र (Rational Theology) ने परस्पर विरोधी मतों की सृष्टि की है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र में जो युक्ति प्रदर्शित की गई है, उसमें दो धारणाओं को सम्मिलित किया गया है। एक है पूर्णतम सत्ता (Most Real Being) और दूसरा है, अनिवार्य अस्तित्व (Necessary Existence)। इन दोनों को मिलाकर कहा गया है कि जो पूर्णतम सत्ता है, उसका अस्तित्व अनिवार्य है।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जितनी युक्तियां हैं, उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा—

(क) उद्देश्यबोधक युक्ति (Teleological Argument)। प्रत्येक वस्तु की सृष्टि के पीछे एक योजना होती है और योजनाकार उससे अवगत रहते हैं, इसलिये इस विराट विश्व की सृष्टि के पीछे एक योजना है और जिनको यह योजना ज्ञात है, वही सर्वज्ञ ईश्वर हैं।

(ख) कार्य-कारण की युक्ति (Causal Argument)।

(ग) पूर्णता-अस्तित्व की युक्ति (Ontological Argument)। देकार्त के दर्शन में ही, द्वितीय और तृतीय युक्ति का परिचय हमें मिल चुका है।

काण्ट के अनुसार उद्देश्यबोधक युक्ति ठीक नहीं है। प्रत्येक वस्तु की सृष्टि के पहिले एक योजना होती है, यह सत्य है, और यह भी सत्य है कि इस

जगत की सृष्टि के पहिले उसकी योजना किसी ने बनाई है। यदि कहा जाय कि ईश्वर ने ही जगत की सृष्टि के पहिले यह योजना बनाई है, तो इससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर जगत की योजना-कर्ता हैं; परन्तु वह इसके सृष्टि कर्ता भी हैं, यह इससे प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि योजना बनाने से सृष्टि भी करनी होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। योजना, सृष्टि नहीं है। इसलिये देकार्ते की युक्ति ने यही दिखलाया है कि ईश्वर योजना-कर्ता हैं। परन्तु यह प्रमाणित नहीं किया है कि वह सृष्टिकर्ता भी हैं।

काण्ट ने और भी दिखलाया है कि देकार्ते की कार्य-कारण युक्ति में भी भूल है। कार्य-कारण विधि व्यावहारिक जगत की विधि है; इसका प्रयोग पारमार्थिक जगत के लिये किया गया है। प्रत्येक कारण का एक कारण होगा, यह स्वीकार करने पर प्रथम कारण का कहीं पता नहीं मिल पायेगा। सलिये इस अनन्त क्रम की समस्या के समाधान के लिये एक अनिवार्य आदि कारण ईश्वर को स्वीकार किया गया है। सब कारणों का कारण रूप यह ईश्वर हमारे निकट भी वास्तव नहीं होगा; एक अन्तिम सम्भावना के रूप में ही इसका अस्तित्व होगा। ईश्वर का यह जो अस्तित्व है, वह अस्तित्व की सम्भावना मात्र है, वास्तविक अस्तित्व नहीं है। अतएव जो प्रमाणित हुआ वह ईश्वर का अस्तित्व नहीं,, बल्कि ईश्वर के सम्बन्ध में एक धारणा का अस्तित्व है।

औरभी कहा गया है कि चूंकि ईश्वर पूर्णतम है, इसलिये उनका अस्तित्व है। क्योंकि पूर्णतम होकर भी अस्तित्व न रहेगा, ऐसा नहीं हो सकता। 'कुछ न रहना' अथवा 'कुछ हो न सकना'—यह तो अपूर्णता का ही परिचायक है। ईश्वर यदि पूर्णतम हैं तो उनका अस्तित्व अनिवार्य है। काण्ट के

अनुसार यह युक्ति समीचीन नहीं है। किसी सर्वांग सम्पूर्ण वस्तु की धारणा हम अवश्य कर सकते हैं, परन्तु वह वस्तु यथार्थ में है या नहीं, यह अप्रमाणित रह जाता है। अर्थात् सर्वांग सम्पूर्ण होने से ही, वास्तव में उसका अस्तित्व होगा ऐसी कोई बात नहीं है।

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में काण्ट जिन सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, संक्षेप में वे ये हैं कि, मनुष्य-ज्ञान का आरम्भ है प्रत्यक्ष से; इस प्रत्यक्ष से प्रत्यय (Concept) का जन्म होता है; और इसकी समाप्ति है प्रज्ञा की धारणाओं (Ideas of the Reason) में। ज्ञान के इन स्तरों में से प्रत्येक का उद्गम मन में है। परन्तु इसमें से कोई हमें अनुभव के बाहर नहीं ले जा सकता। मनोविज्ञान, प्रकृति तत्व और धर्मशास्त्र जिन धारणाओं को आश्रित किये हुए हैं, उनका कोई वास्तविक प्रतिरूप नहीं है। ये केवल आदर्शरूप में ही हैं। हम ईश्वर की धारणा करते हैं, क्योंकि ईश्वर ही परम ऐक्य है। इसी प्रकार हम मन नामक एक पदार्थ की धारणा कर लेते हैं, क्योंकि इसी को आश्रित कर चेतना का अस्तित्व है। काण्ट नें यह दिखलाने की चेष्टा की है कि इन धारणाओं का प्रतिरूप कोई वास्तव-पदार्थ नहीं है, तथापि हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इनके होने की सम्भावना है।

नैतिक बोध का विचार-विश्लेषण

(Critique of Practical Reason)

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में काण्ट जिस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, उससे हमने देखा कि हम निश्चयरूप से कुछ जान न सके। इन्द्रियग्राह्य जगत के पीछे रहकर परमतत्व हमको आकर्षित मात्र करता है, परन्तु मूर्त

होकर अपने स्वरूप में वह हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। बुद्धि के द्वारा हम उसको जानना चाहते हैं, परन्तु बुद्धि उसको विकृत कर डालता है। तथापि हमारी प्रज्ञा में है उस परमतत्व को उसके अखण्ड रूपमें जाननेकी प्रचेष्टा। "जान पड़ता है कि है, परंतु उसको जानने का उपाय नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान को लेकर मनुष्य कैसे तृप्त रहेगा? प्रज्ञा हमें जो धारणा देती है, उसके प्रतिरूप किसी वास्तव पदार्थ का साक्षात्कार हम नहीं कर पाते। जान पड़ता है मानो आत्मा है, ईश्वर है, और कार्य-कारण के क्रम का कहीं अन्त नहीं है। परन्तु "मानो है" इस सिद्धान्त से हम किसी तत्व पर नहीं पहुंचते——बल्कि इससे सन्देह की ही उत्पत्ति होती है।

परन्तु यह सन्देहवाद काण्ट के दर्शन की अन्तिम बात नहीं है। ईश्वर, आत्मा, मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा——ये मनुष्य के नैतिक-बोध से जुड़े हुए हैं। यद्यपि प्रज्ञा हमें कोई निश्चित सिद्धान्त नहींदे सकती, परन्तु इससे निराशा का कोई कारण नहीं है। मनुष्य में संकल्प (Will) नामक एक और पदार्थ है और उसकी भी अपनी एक प्रकृति है। इस संकल्प-वृत्ति का ही काण्ट ने नाम दिया है, नैतिक बुद्धि (Practical Reason)। शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में आलोचना का विषय था, बुद्धि के साथ वाह्यजगत का सम्बन्ध। नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण में काण्ट ने दिखलाने की चेष्टा की कि बुद्धि (Understanding) के साथ संकल्प (Will) का क्या सम्बन्ध है।

नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण को दो अंशों में भाग किया गया है। प्रथम अंश में काण्ट ने दिखलाया है कि मनुष्य में एक नैतिक नियम है। यह नैतिक नियम इन्द्रियों के द्वारा प्रभावित या परिचालित नहीं है,

यह प्रज्ञा द्वारा सृष्ट है। यही कारण है कि इसमें एक अनिवार्यता भी है। यह नैतिक नियम प्रत्येक मनुष्यमें है और कोई भी इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता (Categorical Imperative)। इसी नैतिक नियम के बीच से प्रज्ञा धारणा मात्र न होकर, एक वास्तविकता में, संकल्प के रूप में आत्मप्रकाश करती है। यह संकल्प साधारणतया शुद्ध नहीं रहता और इन्द्रिय के वश में हो जाता है और इसीलिये स्वार्थसिद्धि ही मनुष्य का एकमात्र काम्य हो जाता है। तब उसकी सार्वभौमिकता क्षुण्ण होती है, और वह विशेष (Particular) बन जाता है। इसलिये नैतिक बोध का काम है, संकल्प के इस प्रकार इन्द्रिय वशीभूत होने पर, उसको शुद्ध करना और उसकी सार्वभौमिकता को पुनः प्रतिष्ठित करना। शुद्ध संकल्प के द्वारा यदि कोई कार्य सम्पन्न हो तो वह उचित होगा ही। संकल्प-शुद्धि न होने पर ही न्याय-अन्याय का द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। इसलिये काण्ट के अनुसार आकांक्षाहीन कर्तव्यबोध ही नीति की अन्तिम बात है। क्योंकि कर्तव्य और उचित को, हम कर्तव्य और उचित के रूप में ही स्वीकार करेंगे। क्यों यह उचित है, यह प्रश्न नहीं उठेगा, क्योंकि औचित्य ही इसकी प्रकृति है।

नैतिक बोध के विचार-विश्लेषण के द्वितीय अंश में काण्ट ने दिखलाया है कि नैतिक बोध में एक उद्देश्य भी है। यह उद्देश्य है, क्षुद्र या वृहत् असंख्य कल्याणों के पीछे जो परम कल्याण (Highest Good) है, उसकी प्राप्ति। परम कल्याण ही नैतिक बोध का चरम काम्य है। काण्ट के अनुसार यह परम कल्याण, श्रेष्ठ पुण्य (Greatest Virtue) और श्रेष्ठ सुख (Greatest Happiness) इन दोनों का समन्वय है। परन्तु मनुष्य में जिस प्रकार प्रज्ञा है, उसी प्रकार इन्द्रिय भी है। प्रज्ञा (Reason) शुद्ध

होने पर ही श्रेष्ठ पुण्य का लाभ सम्भव है। परन्तु साधारण अवस्था में प्रज्ञा इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त नहीं रहती। इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त प्रज्ञा का लाभ बहुकाल की साधना का फल है। प्रज्ञा शुद्धि समय-सापेक्ष है। एक क्रम परिणति के बीच ही यह सम्भव होता है। पुण्य का कारण सुख नहीं और सुख का कारण पुण्य नहीं; इन दोनों में कोई कार्य-कारण संबंध नहीं है। एक अनन्त क्रमपरिणति के मध्य से ही सुख और पुण्य का समन्वय सम्भव है। इस अनन्त क्रमपरिणति को यदि स्वीकार करना पड़े तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा अमर है। क्योंकि अस्थायी, नश्वर वस्तु की अनन्त परिणति सम्भव नहीं। अमर होने के कारण ही आत्मा श्रेष्ठ पुण्य के लाभ का अधिकारी है। एक अनन्त काल की साधना से ही श्रेष्ठ पुण्य का लाभ हो सकता है।

दूसरी ओर सुख निर्भर है इच्छा की पूर्ति पर। इच्छा तो मन के अन्दर पैदा होती है, परन्तु इसका सम्बन्ध मन के बाहर किसी वस्तु से है। इस बाह्य वस्तु के द्वारा इच्छा की पूर्ति होती है। इसलिये सुख निर्भर है अन्तर और बाहर के संयोग पर। अन्तर और बाहर का यह संयोग यदि बाह्यान्तर के मिलन के रूप में सार्थक हो, तभी सुख होता है। बाह्यान्तर के इस मिलन को नैतिक और प्राकृतिक जगत का मिलन कहा जा सकता है। दो वस्तु विरोध का अतिक्रमण कर तभी सम्मिलित हो सकते हैं, जब उन दोनों के पीछे कोई मूल अवलम्बन हो, एक परम ऐक्य हो। नैतिक और प्राकृतिक जगत का मिलन इसलिये सम्भव है कि इनके पीछे एक मूल आश्रय है। यह परम आश्रय ही ईश्वर है।

इसलिये हमने देखा कि नैतिक नियम का अस्तित्व है, इसीलिये स्वाधीन

इच्छा नाम की कोई वस्तु सचमुच है; परम पुण्यका आदर्श होने के कारण ही, अमरत्व की धारणा सम्भव हो सकी है। परम सुख का आदर्श है, इसलिये ईश्वर भी सत्य है।

रसबोध का विचार-विश्लेषण

(Critique of Judgment)

बुद्धि और नैतिक बोध के विश्लेषण से हमने देखा कि प्रथम के द्वारा ईश्वर, स्वाधीन इच्छा और अमरत्व के सम्बन्ध में हम निश्चय रूप से कुछ जान नहीं सकते, परन्तु जान पड़ता है कि मानो ये सम्भव हैं। द्वितीय के द्वारा हमने यह जाना कि हमारे नैतिक बोध की भित्ति के रूप में उनके अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। बुद्धि और नैतिक बोध—मन के इन दोनों धर्मों की आलोचना करने के बाद, काण्ट ने अब यह दिखलाने की चेष्टा की कि मन का एक और पहलू है और हमें इसका भी विश्लेषण कर देखना होगा। यह है मन की अनुभव वृत्ति, रसबोध का पहलू। बुद्धि के विश्लेषण से हमें मिली प्राकृतिक नियम की अनिवार्यता, और नैतिक बोध के विश्लेषण से हमें मिली नैतिक जीवन की स्वतंत्रता। इसलिये प्राकृतिक जगत और नैतिक जगत के बीच एक स्पष्ट व्यवधान है। प्राकृतिक जगत के नियम और नैतिक जगत के नियमों में पार्थक्य है। परन्तु जो 'मैं' प्राकृतिक नियमों के अधीन है, वही 'मैं' नैतिक जगत में स्वाधीन है। इन दोनों 'मैं' के विरोध को रसबोध के विचार-विश्लेषण के द्वारा काण्ट ने दूर करने की चेष्टा की है।

काण्ट के अनुसार रसबोध के बीच से हम प्रकृति में एक उद्देश्य का संधान करते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति से तृप्ति मिलती है। इसलिये यह मन का

एक ही धर्म है। रसानुभूति बुद्धि भी नहीं और न नैतिक बोध ही है; यह मन का एक पृथक् धर्म है।

काण्ट के अनुसार उस सार्थक उद्देश्य के दो पहलू हैं—एक आत्मगत (Subjective), दूसरा वस्तुगत (Objective)। रसानुभूति का आत्मगत पहलू जिस वाक्य के द्वारा प्रकाशित होता है, उसको कहते हैं सौन्दर्यबोधक वाक्य (Aesthetic Judgment)। जिस वाक्य के द्वारा इसके वस्तुगत पहलू को प्रकाश प्राप्त होता है, उसको कहते हैं, उद्देश्यबोधक वाक्य (Teleological Judgment)।

सौन्दर्य बोधक वाक्य के विश्लेषण में सौन्दर्य और अपार्थिव महान (Sublime) से क्या बोध होता है, काण्ट ने इसकी आलोचना की है। काण्ट के अनुसार सौन्दर्य निर्भर है, हमारे मन की चारों सार्वभौम धारणाओं पर। गुण की दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि सौन्दर्य हमें तृप्ति देता है, परंतु इस तृप्ति में कोई व्यक्तिगत कामना नहीं है, यह निस्पृह परितृप्ति है परन्तु सुख या कल्याण को प्राप्त कर हमें जो तृप्ति मिलती है, वह इस प्रकार निस्पृह नहीं है, उसके साथ हमारी कामनाओं का सम्बन्ध है। सुख या कल्याण से जो तृप्ति मिलती है, वह हमारा काम्य है, परन्तु सौन्दर्यजात जो तृप्ति है, बिना कामना के ही उसकी प्राप्ति हमें होती है। परिमाण की दृष्टि से सौन्दर्य केवल व्यक्ति-विशेष को ही तृप्त नहीं करता, वह सभी को तृप्त करता है। अर्थात् सौन्दर्य से जो आनन्द है, वह सार्वभौम है। जब एक चित्र को देखकर कोई उसे सुन्दर बताता है, तो वह यही आशा करता है कि कोई अन्य व्यक्ति भी उसे देखकर सुन्दर ही बतायेगा। परन्तु सर्वजन-ग्राह्य होने पर भी सौन्दर्य की अनुभूति वस्तुगत नहीं, बल्कि आत्मगत है।

सम्बन्ध की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि मन सुन्दर वस्तु को सुन्दर के रूप में अवश्य ग्रहण करता है, परन्तु इसे ग्रहण करने में कोई विशेष उद्देश्य निहित नहीं होता। अर्थात् सौन्दर्य की प्रकृति ही ऐसी है कि मन उसे सहज ही ग्रहण कर लेगा। प्रकारों के बीच से देखने पर, जो सुन्दर है, वह मनुष्य को अवश्य तृप्त करेगा। सौन्दर्य की, इस तृप्त करने की क्षमता अनिवार्य है। इसलिये, काण्ट के अनुसार जो सुन्दर है, वह तृप्तिदायक है। यह तृप्ति सार्वभौम है, निस्पृह तथा प्रत्यय-निरपेक्ष है और अनिवार्य है। परन्तु सार्वभौमिकता रहने पर भी सौन्दर्य वस्तुगत नहीं है, यह आत्मगत है, मनुष्य के मन की ही देन है।

जो सब्लाइम है, वह मन में श्रद्धाविस्मय के भाव का उद्रेक करता है। इसकी तुलना में सब कुछ क्षुद्र और साधारण जान पड़ता है। परन्तु सुन्दर के साथ अपार्थिव-महान् का पार्थक्य है। सौन्दर्य मन को शान्ति और स्थिरता देता है, परन्तु अपार्थिव-महान् (Sublime) मन को आलोड़ित करता है; मन को चंचल करता है। सुन्दर, शान्ति के बीच आनन्द की सृष्टि करता है। सब्लाइम यदि महत्तम हो तो प्राकृतिक जगत में वह नहीं मिल सकता, क्योंकि उस जगत में ऐसा कुछ नहीं है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उस जगत में वृहत् से भी वृहत्तर है। सब्लाइम यदि वृहत्तम या महत्तम हो तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अनन्त है। परन्तु असीम या अनन्त वहिर्प्रकृति में नहीं हो सकता, वह तो मन की ही एक धारणा है। इसलिये सब्लाइम या अपार्थिव-महान् बाह्य जगत में नहीं है, वह मनुष्य के अन्तर से ही वहिर्जगत में प्रतिफलित होता है।

उद्देश्यबोधक वाक्य के विश्लेषण के द्वारा काण्ट ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि मन के बाहर जो वस्तु है, उनमें परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध विद्यमान है। इस सम्बन्ध का क्या रूप है, उस पर विचार करना आवश्यक है। हो सकता है कि यह पारस्परिक सम्बन्ध केवल बाहर का ही सम्बन्ध हो, हो सकता है कि यह आभ्यन्तरीण सम्बन्ध भी हो। बाहर का सम्बन्ध वस्तुओं की पारस्परिक प्रयोजनीयता का ही प्रकाश है। परन्तु आभ्यन्तरीण सम्बन्ध (Internal Relation) की विशेषता यह है कि इससे यही प्रकाश पाता है कि वस्तु एक अंश भी है और पूर्ण भी है। शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंग अपनी-अपनी विशेषता में पूर्ण हैं, तथापि ये शरीर के अंश हैं। उनका सम्बन्ध बाहर का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि आभ्यन्तरीण सम्बन्ध है। इसलिये हम देखते हैं कि किसी उद्देश्य को सफल करने के लिये ही इस प्रकार के आभ्यन्तरीण सम्बन्ध का उद्भव हुआ है। कार्य-कारण विधि के द्वारा इसकी व्याख्या सम्भव नहीं; एकमात्र उद्देश्यबोध के नियम के द्वारा ही इसकी व्याख्या की जा सकती है।

प्राकृतिक कार्य-कारण का नियम और उद्देश्य बोध इन दोनों में जो विरोधिता जान पड़ती है, उसका कारण है पूर्ण तथा अंश की धारणाओं का यथार्थ अनुभव न कर सकना। काण्ट के अनुसार बुद्धि के द्वारा पूर्ण और अंश के सम्बन्ध को समझा नहीं जा सकता, और इसलिये उनके विरोध को भी दूर नहीं किया जा सकता। यदि अनुभूति के द्वारा समस्त वस्तुओं को उनके अखण्ड रूप में जाना जा सकता है, तभी यह विरोध दूर हो सकेगा।

परन्तु इस विषय में काण्ट ने और अधिक आलोचना नहीं की है।

पठनीय

काण्ट लिखित:—The Critique of Pure Reason—Translated by N. K. Smith.

The Critique of Practical Reason—Translated by T. K. Abbas.

The Critique of Judgment—Translated by J. E. Bernard.

Selections—Translated by J. Watson.

सहज-प्रवेशिका:—Will Durant—The Story of Philosophy.

A. Schwegler—Handbook of the History of Philosophy.

A. Weber—History of Philosophy.

R. Das—A Handbook to Kant's Critique of Pure Reason.

N. A. Nikam—An Introduction to Kant's Critique of Pure Reason.

आलोचनात्मक:—E. Caird—The Critical Philosophy of Immanual Kant, 2 Vols.

H. A. Prichard—Kant's Theory of Knowledge.

James Ward—A Study of Kant.

N. K. Smith—A Commentary to Kant's Critique of Pure Reason.

A. D. Lindsay—Kant.

H. J. Paton—Kant's Metaphysic of Experience 2 Vols.

A. C. Ewing—Commentary on Kant's Critique of Pure Reason.

G. T. Whitney and D. F. Bowers (Editors)—The Heritage of Kant.

चौथा अध्याय

काण्ट के बाद

काण्ट की मृत्यु के बाद जर्मनी में उनके दर्शन का प्रभाव असामान्य रूप में दृष्ट हुआ। इसकी व्यापकता और नवीनता, इसकी गम्भीरता और नैतिक सचेतनता और सर्वोपरि इसके संस्कारमुक्त स्वाधीन विचार ने इसको शिक्षित और विचारशील व्यक्तियों के लिये ग्रहणीय किया। किसी और दर्शन ने समग्र देश को इस प्रकार आन्दोलित नहीं किया। कुछ ही दिनों में इस दर्शन को आश्रित कर कई एक दर्शन पीठों की स्थापना हुई और विभिन्न विश्वविद्यालयों में काण्टीय दर्शन के अनुरागी अध्यापकों की संख्या बढ़ चली। इसके फलस्वरूप विज्ञान, साहित्य, धर्म और नीति आदि सभी विषयों पर काण्ट के दर्शन का प्रभाव पड़ा। परन्तु इनमें से अधिकांश काण्ट के दर्शन के प्रचार में अथवा उसके त्रुटि-संशोधन में व्यस्त रहे। जिन्होंने काण्टीय विचारधारा को नये मार्ग पर सञ्चालित कर मौलिक दर्शन की रचना की, उनमें फिश्टे (Fichte) और हर्वर्ट (Herbart) प्रधान हैं। काण्टीय दर्शन के विरोधी समालोचक भी हुए जिनमें जेकबी (Jacobi) प्रधान हैं।

शुद्ध-बुद्धि के विचार-विश्लेषण में ईश्वर, स्वाधीन संकल्प और अमरता को ज्ञान के बाहर डालकर, काण्ट ने जो नैतिक बुद्धि के विचार विश्लेषण में पुन: इनको नीति के आश्रय के रूप में ग्रहण किया, इससे इनके सम्बन्ध में मनुष्य के मन में एक सन्देह रह ही जाता है। इसलिये, इस दृष्टिकोण से ज्ञान के सम्बन्ध में एक अनिश्चयता अन्त तक रह जाती है। शुद्ध-पदार्थ के

स्वरूप को जानने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इस अनिश्चयता को दूर करने के लिये जेकबी (Jacobi) ने कहा कि बुद्धि के विश्लेषण के द्वारा हम ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते, एकमात्र विश्वास के मार्ग पर ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। बुद्धि की चरम धारणा ईश्वर को हम प्रत्यक्ष का विषय नहीं बना सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के वहिर्भूत रहना ही ईश्वर की प्रकृति है। बुद्धि के परे, इस चरम सत्ता को जानने के लिये एकमात्र अनुभूति का ही सहारा लिया जा सकता है। जेकवी के अनुसार, अनुभूति के सहारे, विश्वास के द्वारा जिसको जानना होगा, काण्ट ने उसे बुद्धि द्वारा जानने की चेष्टा कर भूल की है।

फिश्टे (Fichte, 1762-1814)

[जर्मनी के एक ग्राम में एक दरिद्र परिवार में फिश्टे का जन्म हुआ। बाल्यावस्था में, उनकी स्मृतिशक्ति से आकृष्ट होकर एक धनी व्यक्ति ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी। कुछ वर्ष बाद उक्त पृष्ठपोषक की मृत्यु के बाद, अनेक अभावों के बीच से १८ वर्ष की अवस्था में फिश्टे जेना विश्वविद्यालय में भरती हुए। अर्थाभाव के कारण, बीच-बीच में उनको अपना अध्ययन बन्द रखना पड़ता। गृह-शिक्षक के काम से कुछ अर्थ सञ्चय कर वह पुनः अध्ययन करते। विश्वविद्यालय के अध्ययनकाल में जब दर्शन के प्रति उनका अनुराग हुआ तो वह प्रथम आकृष्ट हुए स्पिनोजा के दर्शन से। बाद को लाइपजिग नगर में उन्होंने काण्टीय दर्शन का अध्ययन और अध्यापन प्रारम्भ किया। कोनिग्सबर्ग नगर में जाकर फिश्टे ने काण्ट के साथ साक्षात् किया। युवक फिश्टे के प्रति विख्यात दार्शनिक अध्यापक काण्ट के कुछ आग्रह प्रकाश न करने के कारण

फिश्टे के हृदय को कुछ चोट पहुंची, परन्तु इससे वह निरुत्साह न हुए। कोनिग्सबर्ग नगर में रहकर सन् १७९१ ई० में काण्टीय दर्शन पद्धति पर धर्म के एक पहलू की व्याख्या कर उन्होंने एक पुस्तक (Critique of All Revelation) की रचना की। इस विषय पर काण्ट ने तब तक कुछ लिखा नहीं था। इस पुस्तिका को देखकर काण्ट अत्यन्त प्रसन्न हुए और इसके प्रकाशन की भी उन्होंने व्यवस्था की।

सन् १७९८ ई० में फिश्टे का विवाह हुआ और इसके दो वर्ष बाद जेना विश्वविद्यालय में वह अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बादसे विभिन्न विषयों में उनके प्रबंध प्रकाशित होते रहे। उनकी प्रधान रचना है, "वैज्ञानिक ज्ञान की भित्ति" (Groundwork of All Scientific Knowledge)। इसी समय फिश्टे एक दार्शनिक पत्रिका के सम्पादक हुए। एक बार इस पत्रिका में प्रकाशित एक प्रबन्ध जनसाधारण के निकट धर्म-विरुद्ध प्रतीत होने के कारण एक प्रबल आन्दोलन हुआ। परिणामस्वरूप फिश्टे को जेना विश्वविद्यालय के अध्यापक का पद परित्याग कर बर्लिन चला जाना पड़ा। इसके बाद दस वर्ष तक नाना स्थान भ्रमण करने के बाद, अंत में सन् १८०५ ई० में फिश्टे बर्लिन में अध्यापक नियुक्त हुए। बर्लिन अवस्थान काल में, बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये उन्होंने अथक चेष्टा की और सन् १८०९ ई० में विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद वह दर्शन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। जेना में उनके साथ योरोप के अनेक विख्यात मनीषियों से परिचय हुआ, जिनमें गैटे और दांते अन्यतम हैं। इसी समय फिश्टे ने अनेक पुस्तकों की भी रचना की। इनमें उन्होंने काण्टीय दर्शन की भित्ति पर मौलिक व्याख्या की है। वृद्ध काण्ट को यह व्याख्या पसन्द नहीं आई, परन्तु औरों ने

इसे ग्रहण किया। यह बात प्रायः स्वीकृत सी हो गई थी कि काण्टीय दर्शन के स्थान पर फिश्टे का नया दर्शन ही अपने अधिकार का विस्तार करेगा। नैपोलियन की फ्रांसीसी सेना बर्लिन अधिकार करने पर फिश्टे की लेखनी ने स्वदेश प्रेम की वाणी सुनाकर जर्मनी को जागृत रखा था और फ्रांसीसी सेना को जर्मनी से खदेड़ भगाने में समर्थ हुआ। इस युद्धकाल में ही कर्तव्य परायण देशप्रेमी दार्शनिक फिश्टे की मृत्यु हुई।]

फिश्टे के अनुसार काण्ट का दर्शन असम्पूर्ण है। ज्ञानतत्व में काण्ट ने बुद्धि की प्रकृति का विश्लेषण किया है। जब बाहर के शुद्ध पदार्थ के ऊपर बुद्धि की क्रिया होती है, तभी हम बुद्धि की प्रकृति और उसके विधान को जान पाते हैं। परन्तु बुद्धि के इन विधानों की उत्पत्ति कहां से हुई और किस पर वे आश्रित हैं, यह हम नहीं जानते। अर्थात् अनुभूति में जो प्रकाश प्राप्त करता है, काण्ट ने उसी को दिखलाया है, जिसके आश्रय से यह प्रकाश होती है, उसका जिक्र नहीं किया है। फिश्टे के अनुसार उस मूल आश्रय को ही जानना होगा। बुद्धि क्यों उक्त चारों धारणाओं के बीच से ही आत्म प्रकाश करता है, और अन्य किसी प्रकार से नहीं करता—इसका कारण दिखलाना होगा। केवल इनके उल्लेख से ही काम न चलेगा। दूसरी ओर काण्टीय ज्ञानतत्व में हम पाते हैं कि बाहर के शुद्ध पदार्थ के साथ बुद्धि के संयोग से हमारा परिचित जगत उठ खड़ा होता है। परन्तु वह शुद्ध पदार्थ कहां से आया, इस सम्बन्ध में काण्ट ने कुछ नहीं कहा है। काण्ट के ज्ञानतत्व में, ज्ञान का उपादान और उसका आकार, इन दोनों के बीच व्यवधान को दूर करने पर ही, मन की संवेदनग्राहिता और बुद्धि—इन दोनों के पीछे अवस्थित एक ही मूल आश्रय का पता चल जायगा। नैतिक बोध के विश्लेषण में भी

काण्ट ने जिस कर्तव्यबोध का उल्लेख किया है, फिश्टे के अनुसार, उसको भी मूलतत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मूलतत्व से प्रसूत एक सिद्धान्त मात्र है। हमारे नैतिक बोध और स्वाभाविक प्रवृत्तियों में जो विरोध है, केवल उसके उल्लेख से काम न चलेगा, उनका सम्बन्ध क्या है, इस पर भी विचार करना होगा। इनके अतिरिक्त यह भी लक्ष्य करने की बात है कि काण्ट ने दर्शन को खण्ड-खण्ड कर, उनका विश्लेषण किया है, दर्शन की अखण्ड मूलभित्ति का अनुसन्धान उन्होंने नहीं किया है। अतएव फिश्टे के मतानुसार काण्टीय दर्शन में बहुत कुछ है, जिनके समन्वय की आवश्यकता है, और उसमें जिनको स्वतःसिद्ध मान लिया गया है, उनके प्रमाण और व्याख्या की आवश्यकता है। फिश्टे के दर्शन में इस समन्वय और समाधान की चेष्टा ही की गई है।

फिश्टे के अनुसार यह सत्य है कि दर्शन का लक्षण वियोजन (Abstraction) है, परंतु यह साधारण वियोजन नहीं है। साधारण वियोजन मानसिक विश्लेषण मात्र है। दार्शनिक वियोजन इस प्रकार नहीं है। यह इन्द्रियग्राह्य विषयों का विश्लेषण नहीं है, यह अनुभव के उपादानों का सन्धान है। दर्शन अनुभूति के जन्म और क्रमपरिणति के अन्तर्निहित तथ्यों का इतिहास है। परन्तु अनुभव के बाहर जाकर अनुभव का विश्लेषण इसमें नहीं है। अनुभूति के अन्दर डूबकर उसके केन्द्र का अनुसन्धान करना ही दर्शन का काम है। अतएव फिश्टे के मतानुसार वस्तु रूप में हमारा जो इन्द्रियगोचर होता है, उसका अवलम्बन कर हम अनुभव के इस केन्द्र पर नहीं पहुंच सकते। परन्तु एक बार इस केन्द्र पर पहुंचने पर विभिन्न वस्तुओं की प्रकृति हमसे अज्ञात नहीं रहती। विभिन्न बिजली के यन्त्रों को हम देखते हैं, उनका

इस्तेमाल करते हैं; परन्तु उनके परिचय से हमें बिजली के मूलतत्व का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। परन्तु यदि बिजली के मूलतत्व का हमें ज्ञान हो तो उन वस्तुओं की प्रकृति की जानकारी हो ही जाती है; क्योंकि वे उस मूलतत्व को ही विभिन्न रूप में प्रकाशित करते हैं। अनुभव के गहन प्रदेश में उसके केन्द्र का सन्धान जो दर्शन नहीं दे सकता, वह दर्शन नहीं, वह एक शुष्क मत-वाद मात्र है।

परन्तु अनुभव के केन्द्र का सन्धान किस प्रकार मिलेगा? फिश्टे ने कहा कि हमारी विचार-प्रक्रिया के बीच से ही इसके अस्तित्व को हम जान पाते हैं। हम चाहे जिस विषय पर विचार करें, उस विचार में ही, जो विचार करता है, उसका अस्तित्व भी प्रकाशित होता है। अर्थात् मेरे विचार में, विचारान्तर्गत वस्तु जिस प्रकार प्रकाशित होती है, उसी प्रकार 'मैं' भी प्रकाशित होता हूं। परंतु अपनी सत्ता को अलग कर हम किसी विषय पर विचार कर ही नहीं पाते, मेरे विचार के बीच से ही मेरी सत्ता प्रस्फुटित होती है, मेरे आत्मा (Ego) का प्रकाश होता है। पुनः यदि हम आत्मा का विचार करें, तो वह आत्मा के विचार का विषय होगा। अर्थात् आत्मा ही आत्मा का विचार करेगा। आत्मा एक ही साथ विषय और विषयी (Object and Subject) है। ज्ञाता और ज्ञेय, इन दोनों की एकात्मता में ही आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है। अर्थात् प्रकाशित होना ही आत्मा की प्रकृति है। यह स्वयं—प्रकाश और प्रकाशस्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा के साथ ही प्रकाशित होती है इसके विप-रीत—अनात्मा। परन्तु आत्मा को आश्रित कर ही इस अनात्मा की सृष्टि है। आत्मा और अनात्मा दोनों ही एक आत्मा में से दो विरोधी रूप

में निकल आते हैं, क्योंकि आत्मा न होने से उसकी विरोधिता सम्भव नहीं। अतएव आत्मा के लिये ही अनात्मा की सृष्टि है।

तीसरी बात यह है कि आत्मा और अनात्मा दो विपरीत रूप में ही रह जायंगे, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि परस्पर विपरीत होते हुए भी ये विच्छिन्न नहीं हैं। आत्मा मानो स्वयं अपने बीच एक अनात्मा की सृष्टि कर अपने को प्रकाशित करता है। यह मानो पृथक् कर ही मिलन की चेष्टा है, अथवा समन्वय के लिये ही इनको पृथक् करना है। अतएव दर्शन की तीन मुख्य बातें हैं—आत्मा स्वयं-प्रकाश है; इसका विपरीत अनात्मा का प्रकाश भी आत्मा से है; और इन परस्पर विपरीतों का समन्वय भी आत्मा में ही है। (Thesis, Antethesis, Synthesis)। आत्मा का यह जो प्रकाश है, वह है शुद्ध क्रिया (Pure Activity)। फिश्टे के मतानुसार, आत्मा की इस शुद्ध क्रिया से हमें तीन मनन रीति मिलते हैं—एकात्मता (Identity), विरोधिता (Contradiction), और पर्याप्त कारण (Law of Sufficient Reason)। अथवा इनको कहा जा सकता है सत्ता, निषेध और नियन्त्रण। परन्तु मौलिक रूप से ये शुद्ध क्रियारूपी आत्मा छोड़कर और कुछ नहीं है। आत्मा और आत्मा की क्रिया, इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है। अर्थात् आत्मा एक पदार्थ है और उसकी क्रिया है, ऐसा नहीं है। क्रिया या प्रकाश में ही आत्मा की सत्ता है। आत्मा प्रकाशधर्मी है। इसलिये पहिले आत्मा है, उसके बाद उसकी क्रिया होती है, ऐसा नहीं हो सकता। यह नहीं कि आत्मा एक द्रव्य है और क्रिया उसका गुण है। इसलिये, प्रकाशधर्मी आत्मा को कहा गया है। शुद्ध-प्रकाश या शुद्ध-क्रिया (Pure Activity)।

इस शुद्ध क्रिया रूपी आत्मा के दो पहलुओं का विश्लेषण करना है। प्रथम आत्मा, अनात्मा के रूप में अपने को खंडित करती है; यह है ज्ञानवाचक (Cognitive)। द्वितीय आत्मा अपने को अनात्मा का नियन्त्रक बना लेती है, यह है संकल्पवाचक (Conative)।

ज्ञानवाचक आत्मा (Theoretical Ego)

आत्मा जब अनात्मा के रूप में अपने को खण्डित करती है, तब अनात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना पड़ता है और इसीलिये उसकी क्रिया-शीलता में बाधा उत्पन्न होती है। पुनः हम देखते हैं कि अनात्मा की सृष्टि कर यह जो आत्मविरोध है, वही आत्मा की क्रिया है; इसलिये वह क्रियाशील ही है। अर्थात् आत्मा एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही है। फिश्टे के अनुसार आत्मा और अनात्मा के इस सम्बन्ध से ही सार्विक धारणाओं की उत्पत्ति हुई हैं। अनात्मा के द्वारा आत्माव्याहत होती है, इसलिये यह विरोध का कारण है। दूसरी ओर आत्मा की प्रकाश-मानता ही सब कुछ की सत्ता है, इसलिये आत्मा परम पदार्थ है। आत्मा और अनात्मा के विरोध को पार करने के लिये हमें यह स्वीकार करना होगा कि आत्मा के प्रकाश की मानो दो दिशाएं हैं—एक वहिर्मुखी, एक अंतर्मुखी। अपने वहिर्मुखी प्रकाश में आत्मा मानो बाहर अनन्त की ओर अपने को प्रसारित कर देती है, और अपने अंतर्मुखी प्रकाश में यह मानों अपनेको अपने अन्दर संकुचित कर लेना चाहती है। आत्मा के प्रकाश में इस प्रसार और संकुचन के द्वन्द्व से ही विभिन्न विषयों (Presentations) का उद्भव होता है।

प्रथम सृष्टि है संवेदन (Sensation)। आत्मा अपने इस प्रकाश के सम्बन्ध में सचेतन न होने के कारण, जान पड़ता है कि यह मानों बाहरी तथ्य के रूप में उपस्थित हुआ है। इसके बाद यह संवेदन आत्मा के निकट पृथक् एक ज्ञेय वस्तु के रूप में उपस्थित होता है, और ज्ञाता और ज्ञेय के बीच विरोध की सृष्टि कर यह ज्ञाता अथवा आत्मा को खण्डित करता है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय के बीच द्वैतबुद्धि की सृष्टि करता है। यह हुआ दूसरा स्तर, प्रत्यक्ष (Direct Perception)। अब आत्मा के सामने बाहरी वस्तु की सृष्टि हुई। इसके बाद की अवस्था में आत्मा प्रत्यक्षीभूत वस्तु से वस्तु के प्रतिरूप की कल्पना कर लेती है। इस स्तर पर वास्तव और कल्पित वस्तु में पार्थक्य बोध का उदय होता है और मन की मार्विक धारणाएं तथा देश-कालबोध जागृत हो उठते हैं। प्रकाश के चतुर्थ स्तर पर बुद्धि का उदय होता है, जो प्रत्यक्ष के परिवर्तनशील तथ्यों को स्थिरीकृत कर प्रत्यय में (Concept) परिणत करने की चेष्टा करती है। पञ्चम स्तर पर है, वियोजन (Abstraction)। इस अवस्था में मानसिक विश्लेषण के द्वारा किसी विषय (Object) का निर्धारित करना (Judgment) सम्भव होता है।

वियोजन या निर्धारण के बाद एक और स्तर है। फिश्टे के अनुसार ज्ञान के इस छठे स्तर को प्रज्ञा (Reason) कहते हैं। इस प्रज्ञा के प्रभाव से ही ज्ञेय पदार्थ को वियोजित करना सम्भव होता है। परन्तु प्रज्ञा को वियोजित करना सम्भव नहीं। अर्थात् इस प्रज्ञा के कारण ही हम बुद्धि (Understanding) पर्यन्त सभी चीज को ज्ञेय पदार्थ या ज्ञान के विषय (Object) के रूप में देखते हैं। प्रज्ञा है, इसीलिये द्वैतज्ञान सम्भव है।

इसलिये प्रज्ञा को हम ज्ञान के विषय के रूप में प्राप्त नहीं कर सकते। यह विशुद्ध चैतन्य (Pure Consciousness) है। अभी तक ज्ञाता और ज्ञेय में जो द्वैतभाव का विरोध विद्यमान था, प्रज्ञा के स्तर पर उस विरोध का अस्तित्व नहीं रहता। उस समय आत्मा यह समझ पाती है कि यही विषय है और यही विषयी भी है, यही आश्रय है और आश्रयी भी यही है, यही आत्मा है और अनात्मा भी।

संकल्पवाचक आत्मा (Practical Ego)

उल्लिखित ज्ञान के विषय के स्तरभेद में हमनेदेखा किस प्रकार प्रकाश-स्वरूप आत्मा अपने प्रकाश के बीच विरोध और सीमा की सृष्टि कर जगत की रचना करता है। परन्तु एक प्रश्न अब भी रह जाता है, कि स्वकीय अन्तर्विरोध आया क्यों? आत्मा के प्रकाश में इस अन्तर्द्वन्द्व का कारण क्या है? फिश्टे ने कहा कि काण्ट के नैतिक बोध के विश्लेषण में ही इस अन्तर्द्वन्द्व का कारण मिलेगा। जो आत्मा अपने को खण्डित कर द्वैतज्ञान की सृष्टि करता है, वह ज्ञानवाचक इसीलिये है कि वह संकल्पवाचक होगा। अर्थात् ज्ञान का उद्देश्य है। ज्ञान की परिणति है संकल्प में। आत्मा के सम्मुख समस्त जगत जो वस्तुरूप में उपस्थित हुआ, उसका उद्देश्य है इस संकल्प को कार्य में परिणत करना। विचित्र वस्तु जगत के बीच से ही हमारा कर्तव्यबोध जागृत हो उठता है। गति ही जीवन का धर्म है, और कर्म के बीच ही इस गति का प्रकाश है। परन्तु यदि जगत न हो तो, विभिन्न वस्तुओं के घात-प्रतिघात का समावेश न हो, जिससे कर्म नहीं हो सकता। इन्द्रियगोचर इस जगत की सृष्टि इसीलिये हुई है, जिससे कर्म के बीच अपने नैतिक बोध को हम मूर्त कर

सकें। अर्थात् नैतिक बोध को आश्रित कर ही जगत हमारे निकट जगत के रूप में वर्तमान है। बाधा का अतिक्रमण करना ही कर्म का लक्षण है। इसलिये कर्म करने के पहिले, अतिक्रमण करने के लिये बाधा का अस्तित्व आवश्यक है। नैतिकबोध को मूर्त करने के लिये कर्म आवश्यक है, और कर्म को सम्भव करने के लिये बाधा आवश्यक है। इसलिये आत्मा को बाधा या विरोध के लिये ही जगत की सृष्टि करनी पड़ती है। विरोध का अतिक्रमण करने ही के लिये आत्मा विरोध की सृष्टि करती है। नीति जगत को रूप देने के लिये ही जगत की सृष्टि है। मुक्ति के लिये ही बन्धन है। नैतिक बोध के बीच ही मनुष्य-विशेष का अतिक्रमण कर हम मनुष्यत्व को प्राप्त करते हैं। जीव का अतिक्रमण कर हम आत्मा को प्राप्त करते हैं।

फिश्टे के अनुसार, स्वतन्त्रता या आत्मनियन्त्रण ही वस्तु की सत्ता है। यही परम सत्य है। इसलिये स्वतन्त्रता को हम इन्द्रियग्राह्य वस्तु के रूप में नहीं पाते। स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ है अपनी शक्ति से अपने को पूर्णतम बनाना। यह आत्मसृष्टि है। यह आत्मसृष्टि क्रम-परिणति है; इसलिये यह समय पर आश्रित है। समय बुद्धि की क्रिया द्वारा उत्पन्न है; इसलिये आत्मसृष्टि का मार्ग बुद्धि के बीच से है। अर्थात् बुद्धि, स्वतन्त्रता या आत्मसृष्टि के लाभ करने का उपाय मात्र है। एक और दृष्टि से कहा जा सकता है कि आत्मसृष्टि की गति के मार्ग में बुद्धि एक स्तर मात्र है।

आत्मसृष्टि या स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बाह्यजगत के अन्य मनुष्यों के संस्पर्श में आना होगा। मनुष्य विशेषों के पारस्परिक सम्बन्ध से मनुष्य के अधिकारों (Rights) की सृष्टि होती है। अधिकार और कर्तव्य का पार्थक्य यह है कि अधिकार है बाह्य परिस्थिति के द्वारा अनि-

वार्यरूप से नियन्त्रित कर्म (External Necessity) और कर्तव्य है अंतर के द्वारा अनिवार्य रूप से नियंत्रित कर्म (Internal Necessity)। इसलिये कर्तव्य के बीच से ही स्वाधीनता रूप ग्रहण करती है।

ईश्वर के सम्बन्ध में भी फिश्टे का एक विशेष मत है। नैतिक जगत के बीच से ही हमने ईश्वर को स्वीकार किया है। नैतिक कर्म के बीच ही ईश्वर हमारे निकट प्रकाशित होते हैं। इस नैतिक जगत के प्रति हमारा पूर्ण विश्वास रहना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य जीवन के बीच से जो नैतिक विधान निरन्तर आत्मप्रकाश करता है, वही तो ईश्वर है, वही सनातन है। अन्य ईश्वर से हमें कोई प्रयोजन नहीं है, और वह हमारी धारणा के भी अतीत हैं। पदार्थ के रूप में ईश्वर की धारणा नहीं की जा सकती। इस नैतिक विधान या ईश्वर के प्रति परिपूर्ण आस्था रखकर अपना कर्तव्य करते जाना ही धर्म है। अपने को इस सनातन नीति के विधान के अधीन रखने से ही मनुष्य को शाश्वत जीवन का सन्धान मिलेगा।

फिश्टे के दर्शन के प्रधान वक्तव्य विषयों की आलोचना ऊपर दी गई है। उपरोक्त आलोचना में हमने देखा कि काण्ट के दर्शन में जो शुद्ध पदार्थ अज्ञेय रूप में रह गया था और शुद्धाशुद्ध का जो द्वैतभाव अनतिक्रमणीय जान पड़ता था, फिश्टे ने उनको दूर किया। शुद्ध-अशुद्ध, या अन्तर-बाहर, ये वास्तव में दो नहीं, एक ही आत्मा है। ये आत्मा के प्रकाश के दो रूप हैं। उपमा के रूप में कहा जा सकता है कि द्वैत के रूप में अद्वैत अपनी उपलब्धि कर रहा है। पुनः आत्म-प्रकाश की स्वतन्त्रता के बीच से हम पाते हैं नीति के जगत को; वही हमारा ईश्वर है। इस आत्मा (Ego) और ईश्वर में कोई

पार्थक्य है या नहीं, और यदि है तो उनका रूप क्या है, इस सम्बन्ध में फिख्टे ने कुछ स्पष्ट नहीं कहा है ।

परन्तु फिख्टे के अन्त के लेखों में, अर्थात् बर्लिन अवस्थान के समय उनके दार्शनिक मतों में विशेष परिवर्तन हुआ । पहिले फिख्टे ने प्रकाशस्वरूप आत्मा को ही परमतत्व के रूप में ग्रहण किया था । अब उन्होंने कहा कि ईश्वर ही परम तत्व है । जिस ईश्वर को विश्व के मूल में नैतिक विधान के रूप में विद्यमान माना गया था, अब उन्हीं को कहा गया कि वह विश्व के सब कुछ के एकमात्र आश्रय हैं। फिख्टे ने कहा कि जब तक मनुष्य अपने 'अहं' को प्रधान बना रखेगा, तबतक ईश्वरतत्व उसके लिये अज्ञेय होगा । इस 'अहं' के सम्पूर्ण लोप के साथ-साथ ईश्वर का आविर्भाव होता है, तब यह बात समझ में आती है कि ईश्वर ही विश्व का सब कुछ है । ईश्वर छोड़ और कुछ नहीं है ।

समालोचकों ने यह मान लिया है कि फिख्टे के बाद के दर्शन में उनके पहिले के दर्शन की अवनति हुई है । पाश्चात्य दृष्टिकोण से यह मानना ही स्वाभाविक है । परंतु भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने पर यही लगता है कि दार्शनिक की स्वाभाविकपरिणति यही है। जिस परम तत्व को दार्शनिक ने प्रथम जीवन में विचार-बुद्धि के बीच प्राप्त किया, जीवन की गहरी खोज में, अन्तर्दृष्टि के मार्ग पर, उससे उसका घनिष्ठ परिचय हुआ । इस परिचय का इतिहास समालोचकों की दृष्टि से ओझल रह जाता है ।

भाषण दिये। शेलिंग अपने उदार हृदय और लोकप्रिय स्वभाव के कारण सबके प्रिय थे। उस समय योरोपीय संस्कृति में रोमान्टिक भावधारा की जो बाढ़ आई थी, उसमें शेलिंग का प्रभाव भी काफी था। शेलिंग स्वयं रोमान्टिक भावनाओं से प्रभावित होने के कारण, उनकी दार्शनिक विचारधारा अविच्छिन्न नहीं थी। कई अवस्थाओं में इसमें नवीन परिवर्तन हुए। सन् १८५४ ई० में शेलिंग की मृत्यु हुई।]

फिश्टे ने कहा कि आत्मा से ही अनात्मा की सृष्टि है। शेलिंग के अनुसार यह कहना संगत नहीं कि आत्मा ही अनात्मा का स्रष्टा है। क्योंकि जिस प्रकार आत्मा को छोड़कर अनात्मा नहीं रह सकता, उसी प्रकार अनात्मा को छोड़ कर आत्मा भी नहीं रह सकता। फिश्टे का स्वयं यह मत है कि अनात्मा के प्रकाश के बीच से ही आत्मा, आत्मा है। इस प्रकार आत्मा जैसे अनात्मा का सृष्टिकारक है, उसी प्रकार अनात्मा भी आत्मा का सृष्टिकारक है। जब आत्मा और अनात्मा में एक ही प्रकार का सम्बन्ध है, तो हम आत्मा को परम (Absolute) नहीं मान सकते। जब यह अनात्मा को आश्रित किये हुए है, तो वह परम कैसे होगा। इसी कारण से अनात्मा भी परम नहीं हो सकता। क्योंकि यह आत्मा को आश्रित किये हुए है। आत्मा और अनात्मा परस्पराश्रयी हैं। इसलिये, शेलिंग के अनुसार, चूंकि आत्मा या अनात्मा, इनमें से कोई भी स्वयंसिद्ध नहीं है, इसलिये कोई भी 'परम' नहीं है।

अतएव, या तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि 'परम' नाम की कोई वस्तु नहीं है, नहीं तो आत्मा और अनात्मा, दोनों के परे जाकर, 'परम' का अन्वेषण करना पड़ेगा। शेलिंग ने कहा कि 'परम' नहीं है, ऐसा नहीं हो

सकता; परम है, और सब कारणों के एक मात्र कारण के रूप में वर्तमान है। इसलिये आत्मा ने अनात्मा अथवा जड़-जगत की सृष्टि की है, यह आत्म गत भाववाद (Subjective Idealism) जैसा सत्य नहीं है, उसी प्रकार यह भी सत्य नहीं है कि अनात्मा अथवा जड़ से आत्मा की सृष्टि हुई है, जो कि संवेदनवाद (Sensationalism) का सिद्धान्त है। आत्मा और अनात्मा, चित् और अचित्, दोनों एक आदि कारण से उद्भूत हैं।

अर्थात् शेलिंग के अनुसार एक परम कारण से, चित् और अचित्, आत्मा और अनात्मा दोनों की उत्पत्ति हुई है। चित् और अचित् ये उस परम कारण के दो समानान्तर (Parallel) प्रकाश हैं। परम कारण के इन दो तत्त्वों की आलोचना करना ही दर्शन का कार्य है। आत्म-तत्व भी जिस प्रकार तत्व है, अनात्मत-त्व भी उसी प्रकार तत्व है। फिश्टे ने केवल आत्म-तत्व की ही आलोचना की है। शेलिंग ने अनात्म-तत्व को भी एक तत्व के रूप में ग्रहण किया। इसलिये शेलिंग के अनुसार, यह जड़-जगत, आत्मा की सृष्टि नहीं है, इसकी निज की पृथक् सत्ता है। यह जड़-जगत आत्मा का विस्तार क्षेत्र है। इसलिये, चिन्तन के द्वारा हम सृष्टि नहीं करते, बल्कि पुनः सृष्टि (Reproduce) करते हैं।

शेलिंग के अनुसार, आत्मा और अनात्मा, दोनों का मूल एक ही है। इसलिये इनमें कोई विरोध नही हो सकता। जड़-जगत का विधान और बुद्धि का विधान, इन दोनों में मेल है। जो परमतत्व, जड़ प्रकृति के बीच से आत्मप्रकाश कर रहा है, वही परमतत्व बुद्धि के बीच भी आत्म प्रकाश करता है। यह परम तत्व स्पिनोजा के परम तत्व के अनुरूप ही है।

स्पिनोजा ने इसी को ईश्वर कहा है। परन्तु स्पिनोजा का अद्वैतवाद शेलिंग के दर्शन से भिन्न है।

बुद्धि (Thought) और जड़-प्रकृति (Nature), ये परमतत्व के समानान्तर प्रकाश हैं; इसलिये बुद्धि के प्रकाश में जिस प्रकार क्रिया (Thesis) प्रतिक्रिया (Anti-Thesis) और समन्वय (Synthesis) हैं, जड़ जगत की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार वस्तुत्व (Materiality), आकार (form) और इन दोनों के समन्वय (Organised-Matter) हैं। बुद्धि के प्रकाश में जिस प्रकार उक्त तीनों क्रियाओं को पृथक् नहीं किया जा सकता, जड़ की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार वस्तुत्व, आकार और इनके समन्वय को पृथक् अवस्थाओं में प्राप्त नहीं किया जा सकता। शेलिंग के अनुसार प्रकृति में सर्वत्र यह समन्वय मिलेगा, और इस समन्वय के बीच ही हमें प्राण का सन्धान मिलता है। प्रकृति के प्रत्येक अंश में प्राण का स्पन्दन हो रहा है। जिन वस्तुओं को हम प्राणहीन समझते हैं, वास्तव में वे प्राणहीन नहीं हैं। प्राण उनमें सुप्त है। जाग्रत होने पर वे उद्भिज-जगत में रूपान्तरित होंगे। पुनः यदि उद्भिज-जगत चेतनामय हो जाय तो वह प्राणी-जगत में परिणत होगा। जगत की सब वस्तुओं में एक गति और एक छन्द है। क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय के बीच से ही इस गति को प्रेरणा मिल रही है।

मनोजगत में भी अनुरूप अभिव्यक्ति हो रही है। संवेदन (Sensation), प्रत्यक्ष (Perception), और वियोजन (Abstraction), ये तीनों हैं बुद्धि या ज्ञानवाचक आत्मा (Theoretical Ego) के धर्म। ज्ञानवाचक आत्मा की परिणति है, संकल्पवाचक आत्मा में (Practical

Ego); बुद्धि की परिणति है संकल्प (Will) में। अर्थात् बुद्धि संकल्प की अपरिणत अवस्था है। आत्म-सचेतन होने से बुद्धि संकल्प हो जाती है। बुद्धि और संकल्प दोनों का कार्य सृष्टि करना है। परन्तु बुद्धि की क्रियाशीलता में आत्म-सचेतनता न होने के कारण, उसमें स्वाधीनता नहीं है। संकल्प की क्रिया सज्ञान सृष्टि है, इसलिये उस सृष्टि में स्वतन्त्रता है।

जड़-जगत में जिस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का द्वन्द्व है, मनोजगत में भी उसी प्रकार का द्वन्द्व है। बुद्धि जड़-जगत के तथ्यों को ले आती है और संकल्प उनका अतिक्रमण करती है। जड़ के बीच से जड़ को अतिक्रमण करने की यह नियत प्रचेष्टा मनोजगत में चल रही है। जड़-जगत में जिस शक्ति का प्रकाश होता है, आकर्षण, विकर्षण, आलोक, बिजली प्रभृति के आकार में, मनोजगत में उसी शक्ति का प्रकाश होता है, बुद्धि और संकल्प की प्रचेष्टा में। बुद्धि और संकल्प के विरोध में जिसका निर्माण होता है, वही मानव सभ्यता का इतिहास है। शेलिंग के अनुसार प्रकृति की अभिव्यक्ति में जिस प्रकार तीन स्तर हैं, मानव सभ्यता की अभिव्यक्ति में भी उसी प्रकार तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर था अन्धविश्वास का, कुसंस्कार का युग; मनुष्य की बुद्धि उस समय आच्छन्न थी। दूसरे युग का आरम्भ हुआ रोमन संस्कृति से। इस द्वितीय स्तर पर मनुष्य ने अन्धविश्वास के आवरण को भेद कर बुद्धि को मोहमुक्त किया। तब मनुष्य ने अपने संकल्प का आश्रय लेकर नई सृष्टि के प्रति ध्यान दिया। अभी वह दूसरा युग चल रहा है। मानव सभ्यता का तीसरा युग भविष्य में आयेगा। उस युग में पहिले के दोनों युगों का समन्वय होगा। अर्थात् सभ्यता के अगले युग में जड़ और बुद्धि एक अपूर्व समन्वय में

मूर्त हो उठेंगे। वस्तु और भाव, इन दोनों के समन्वय से परमतत्त्व अधिकाधिक आत्मप्रकाश करता रहेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा और अनात्मा, अथवा वस्तु और भाव इन दोनों के द्वन्द्व को पार करने पर ही परमतत्त्व का सन्धान प्राप्त होगा। परन्तु बुद्धि के मार्ग पर इस द्वैतवाद का अतिक्रमण न हो सकेगा: विषय और विषयी, ज्ञान और ज्ञाता, इन दोनों का द्वन्द्व रह ही जायगा। इसलिये शेलिंग ने कहा कि चरम समन्वय का मार्ग युक्ति का मार्ग नहीं है; वह अनुभव का मार्ग है, उपलब्धि का मार्ग है। शिल्पकला के बीच से ही यह उपलब्धि सम्भव है। इसलिये दर्शन की अपेक्षा शिल्पकला का स्थान और ऊँचा है। क्योंकि दर्शन ईश्वर की धारणा मात्र देता है, परन्तु कला प्रकाश में लाता है, स्वयं ईश्वर को।

पहिले ही कहा जा चुका है कि दर्शन के क्षेत्र में योरोप के रोमान्टिक युग के प्रतीक है शेलिंग। इसलिये रोमान्टिक प्रकृति का अनुयायी, उनका चिर-अभिसारी मन एक सुसम्बद्ध दार्शनिक मतवाद की स्थापना न कर सका। तथापि इसके विभिन्न, विचित्र प्रकाश के बीच से एक अद्वैतवाद का आभास ही मिलता है। अपने अन्तिम लेखों में उन्होंने परमतत्त्व को देखा है एक आदि-संकल्प के रूप में। जड, चेतन, बुद्धि— यहां तक कि ईश्वर के बीच से भी वह संकल्प (Will) अपने को प्रकाशित करता है। इस संकल्प के बीच से ईश्वर अपने को पूर्ण करते हैं। जगत में जो अमंगल है, वह ईश्वर सृष्ट नहीं है; शेलिंग के अनुसार वह आदि संकल्प में (Primitive Will) ही था, जिसने प्रकाश प्राप्त किया। परन्तु यह मंगल को, शुभ को लाभ कराने के लिये ही जगत में है। यह परमतत्त्व के उद्देश्य को ही सफल करता है।

पठनीय

रोमान्टिक युग सम्बन्धीः—

J. Royáce--Spirit of Modern Philosophy.

R. M. Wernaer--Romanticism and Romantic School in Germany.

G. H. Mead--Movements of Thought in the Nineteenth Century.

फिश्टे लिखितः—

Science of Knowledge--Translated into English by A. E. Kroeger.

Popular Works of Fichte--Translated by William Smith.

सहज-प्रवेशिकाः—

Schwegler--Handbook of the History of Philosophy.

समालोचनात्मकः—

R. Adamson--Fichte.

C. C. Everett--Fichte's Science of Knowledge.

A. Seth Pringle-Pattison--From Kant to Hegel.

पांचवां अध्याय

हेगेल (George William Frederic Hegel 1770-1831)

[जर्मनी के उरटेमबुर्ग प्रदेश के स्टुटगार्ट नामक शहर के एक मध्यमवर्ग के शिक्षित परिवार में हेगेल का जन्म हुआ। शहर के स्कूल में ५ वर्ष की अवस्था में उनका शिक्षारम्भ हुआ। इस समय वह कोई असाधारण छात्र न थे। परन्तु पहिले से ही उनके चरित्र में धैर्य और अनुशासन के प्रति अनुराग दृष्ट होने लगा था। स्कूल की उच्च कक्षाओं में पढ़ते समय यूनानी काव्य और यूनानी कला ने उनके मन पर प्रभाव विस्तार किया था, और यूनानी कला को वह समन्वय का मूर्त प्रकाश मानते थे। इसके अतिरिक्त हर प्रकार के विज्ञान के प्रति उनका यथेष्ट अनुराग था। वह जब जो कुछ पढ़ते थे, उसका विश्लेषण कर रखते थे। अठारह वर्ष की अवस्था में हेगेल ने टुबिंगेन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। उस समय वहां कोई ख्यातिप्राप्त अध्यापक न थे, यहां तक कि काण्टीय दर्शन भी ठीक से पढ़ाने वाला कोई न था। इसलिये हेगेल तथा अन्यान्य छात्रगण अपनी इच्छा के अनुसार किसी विषय का अध्ययन करते थे। उम्र में कम शेलिंग हेगेल के सहपाठी थे। शेलिंग एक मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धि छात्र थे। हेगेल, शेलिंग तथा अन्य छात्रों ने मिलकर एक राजनीतिक परिषद् की स्थापना की और स्वाधीनता तथा

मानवता का प्रचार उत्साह के साथ करने लगे। विश्वविद्यालय के छात्र जीवन में हम हेगेल को पाते हैं, एक मित्रप्रेमी, उदार और सामाजिक व्यक्ति के रूप में। परन्तु हेगेल के चरित्र की विशेषता थी, गहराई और संयम। यही कारण है कि उनके मित्र उनको 'वृद्ध' कहकर विद्रुप करते थे। २३ वर्ष की अवस्था में हेगेल विश्वविद्यालय से निकले। इसके बाद स्विट्जरलैंड के बर्न शहर के एक गृह-शिक्षक के रूप में उन्होंने ६ वर्ष बिताये। बाहर से ये ६ वर्ष असार्थक जान पड़ने पर भी वास्तव में यही हेगेल के जीवन का बहुमूल्य समय था। इस समय शेलिंग की ख्याति चारों ओर फैल गई थी। हेगेल सन् १८०१ ई० में येना शहर में शिक्षक होकर आये और दार्शनिक मत प्रचार में वह शेलिंग के सहायक हुए। इसके कुछ वर्ष बाद शेलिंग के अर्सबर्ग चले जाने पर, येना में वह अध्यापक नियुक्त हुए। इस समय शेलिंग के दर्शन की समालोचना के बीच उन्होंने अपने दार्शनिक मत का निर्माण किया। इसके तुरन्त बाद ही येना शहर में युद्धविग्रह के कारण एक राजनीतिक उलट-फेर होने पर हेगेल अध्यापक पद से विच्युत हुए। दो वर्ष एक सम्पादक के रूप में और ६ वर्ष एक विद्यालय के प्रधान शिक्षक के रूप में कार्य कर उन्हें जीविका निर्वाह करना पड़ा। परन्तु इन सब असुविधाओं को भोग करते हुए भी दर्शन ग्रन्थ की रचना का काम बन्द न था। सन् १८१६ ई० में हेगेल अध्यापक होकर हाइडेलबर्ग शहर को गये और दो वर्ष बाद फिश्टे की मृत्यु के कारण बर्लिन के दर्शन के अध्यापक का पद खाली होने पर वहीं वह नियुक्त हुए। इस समय से ही मृत्यु काल पर्यन्त हेगेल ही जर्मनी के दार्शनिक जगत के अधिनायक थे। सन् १८३१ ई० में हेगेल की मृत्यु हुई। हेगेल के व्यक्तित्व में एक नवीनता थी। उनका स्वास्थ्य तो अच्छा नहीं था, परंतु उनकी इच्छा-

से ही व्यक्तिगत शुभ को प्राप्त किया जा सकता है। इस नैतिकबोध के आश्रय से परिवार (Family), समाज और शासनतन्त्र जीवित रहते हैं।

हेगेल का कहना है कि जो परमतत्व डायलेक्टिक के नियम से शुद्ध प्रत्यय विज्ञान की सृष्टि करता है, वही अधिक मूर्त रूप में वाह्य जगत के रूप में प्रकाशित होता है। तब यह प्रत्यय से पदार्थ में रूपान्तरित हो जाता है। वही एक ही परमतत्व मानव सभ्यता के इतिहास में विभिन्न घटनाओं के बीच राज्यों के उत्थान पतन में आत्म प्रकाश करता है। केवल मानव-मन की सार्वभौम धारणाओं अथवा जगत के जड़-उद्भिज-प्राणीवाचक पदार्थों के बीच से ही नहीं, बल्कि मानव संस्कृति के इतिहास के बीच से भी एक ही आत्मचेतना का क्रमप्रकाश जारी है। राज्यों के ध्वंस-निर्माण का इतिहास अथवा मानव सभ्यता का इतिहास, मूलतः यह आत्म-चेतना का क्रमविकास है। ध्वंस और निर्माण के बीच से आत्मचेतनारूपी परमतत्व अपने को अक्षुण्ण रूप में प्रकाशित करता चलता है।

किन्तु मनुष्य का यह सभ्य राजनैतिक जीवन ही उसकी आत्मचेतना का पूर्णतम विकास नहीं है। क्योंकि केवल राजनीतिक जीवन से ही मनुष्य पूर्ण सुख प्राप्त नहीं करता। इसलिये और आगे बढ़ना होगा। परंतु पहिले ही कहा जा चुका है कि हेगेल के अनुसार परमतत्व की अभिव्यक्ति में जो पुरातन या अतिक्रान्त है, वह बिलकुल परित्यक्त नहीं है, नूतन के बीच वह नव-जन्म लाभ करता है। पुरातन को ग्रहण कर ही नवीन जीवित रहता है। जड़-जगत को आश्रित कर ही उद्भिज जगत और जीव जगत का विकास संभव होता है। उसी प्रकार राजनीतिक जीवन को आश्रित कर ही मनुष्य आत्मचेतना की पूर्ण परिणति को प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति-जीवन अपनी आत्मकेन्द्रिक

सीमा का अतिक्रमण कर, समाज के राजनीतिक जीवन में अपनी परिणति का सन्धान करता है। परन्तु व्यक्ति-जीवन, बहु जीवन में अपनी सार्थकता का अनुसन्धान करने पर भी और आंशिक रूप में उसे प्राप्त करने पर भी, इस स्तर पर अपनी चरम सार्थकता का लाभ नहीं कर पाता। चरम सार्थकता का लाभ करने के लिये, आत्मचेतना की पूर्ण परिणति को सम्भव करने के लिये, मनुष्य को वहां जाना होगा, जहां उसकी स्वाधीनता में कोई अन्तराय नहीं है। कोई विरोध नहीं है। यह अक्षुण्ण स्वतन्त्रता का जगत है कला, धर्म और दर्शन। मनुष्य के मन को बाह्यजगत से पुनः अन्तर्जगत को लौटना होगा। इस अन्तर्जगत में मनुष्य को सन्धान करना होगा ईश्वर, सुन्दर और सत्य को। इनके बीच से ही मनुष्य अपनी पूर्ण आत्मचेतना में परमतत्व की उपलब्धि करेगा।

कला के वीच से ही मनुष्य बाह्य जगत के विरोध पर विजय प्राप्त करता है अथवा उसका अतिक्रमण करता है। कला के बीच से ही मनुष्य का अन्तर अनन्त का स्पर्श प्राप्त करता है। कला को आश्रित कर मनुष्य जैसे विरोध के परे जाने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार धर्म जीवन के बीच से भी वह विरोध से मुक्ति का सन्धान करता है। वस्तुतः विरोध के बीच से ही धर्म जीवन का आरम्भ होती है। परन्तु हेगेल के अनुसार कला या धर्म में जो सार्थकता प्राप्त होती है, वह पूर्णतम नहीं है। क्योंकि वह कल्पना और आवेग पर ही आश्रित होती है। उनके अनुसार मनुष्य की पूर्णतम सार्थकता है दर्शन में; दर्शन में जिस सत्य की उपलब्धि होती है, वही पूर्ण आत्म-चेतना (Absolute Mind) है।

पठनीय

हेगेल लिखित:—(अंग्रेजी में अनूदित)

Phenomenology of Mind--J. B. Baillie.

Logic and Philosophy of Mind—William Wallace.

Philosophy of Religion—Speirs and Sanderson

Philosophy of History--J. Sibree.

Selections—Edited by J. Loewenberg.

सहज-प्रवेशिका:—

Weber--History of Philosophy.

E. Caird--Hegel.

J. Royace--Spirit of Modern Philosophy.

आलोचनात्मक:—

W. E. Stace--The Philosophy of Hegel.

J. G. Hibben—Hegel's Logic.

J. B. Baillie—Hegel's Logic.

J. E McTaggart--A Conmentary on Hegel's Logic. Studies in the Hegelian Dialectic.

B. Croce--What is Living and What is Dead in the Philosophy of Hegel,

हरबर्ट (Johann Friedrich Herbert, 1776-1841)

हेगेलीय दर्शन का प्रभाव असाधारण होने और दूर-दूर तक फैलने के बावजूद कुछ दार्शनिकों ने काण्टीय विचारधारा का ही अनुसरण किया। इनमें से मुख्य थे कोनिग्सबर्ग और गटिन्जेन के अध्यापक हरबर्ट।

[सन् १७७६ ई० में हरबर्ट का जन्म हुआ। काण्ट के दर्शन ने पहिले से ही उनको आकृष्ट किया था। १८ वर्ष की अवस्था में येना विश्वविद्यालय में उन्होंने फिश्टे के निकट अध्ययन किया था, और २६ वर्ष की अवस्था में उसी विश्वविद्यालय में वह अध्यापक नियुक्त हुए। येना विश्वविद्यालय से, सन् १८०९ ई० में हरबर्ट, काण्ट अध्यापक होकर कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय को चले गये। काण्ट के बाद जर्मनी के दार्शनिक जगत में भाववाद (Idealism) का प्रसार होने लगा था। हरबर्ट इस भाववाद के विरोध में खड़े हुए, और अपने स्वतन्त्र ढंग से वास्तववाद का प्रचार करने लगे। सन् १८४१ ई० में हरबर्ट की मृत्यु हुई।]

हरबर्ट हेगेलीय मत को ग्रहण नहीं कर सके। जड़-जगत की विभिन्न वस्तुएं चैतन्य के ही प्रकाश हैं, यह उनको असम्भव जान पड़ा। उनके अनुसार जड़ का अस्तित्व चैतन्य पर आश्रित नहीं हो सकता। वह चैतन्य निरपेक्ष, स्वाधीन है। जड़ जगत की सृष्टि करना चैतन्य का काम नहीं है, चैतन्य का काम है जड़ जगत के स्वरूप को अवगत होना। इसलिये हरबर्ट के मतानुसार, जगत को हम जिस रूप में पाते हैं, उसी रूप में उसे ग्रहण कर,

उसकी व्याख्या करना, यह दर्शन का काम है। वैज्ञानिक तथ्यों को स्वीकार न करने से दर्शन केवल एक काल्पनिक गवेषणा में परिणत होगी। जिन धारणाओं या प्रत्ययों की भित्ति पर विभिन्न विज्ञान प्रतिष्ठित हैं, उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या करना ही दर्शन का काम है।

हरवर्ट के अनुसार, विरोध या द्वन्द्व की व्याख्या करने की चेष्टा दर्शन ने युग-युगान्त से की है। किसी के अनुसार विरोध की समस्या का समाधान नहीं है, किसी के अनुसार यही कारण है कि दर्शन सत्य को नहीं जान सकता। हेगेल के अनुसार विरोध या द्वन्द्व ही दर्शन का मूलतत्व है। परन्तु इनमें से कोई भी समस्या का समाधान नहीं है।

सत्ता (Being) शब्द से जिसका बोध होता है, हरवर्ट के अनुसार, वह न निषेधात्मक है और न सीमाबद्ध ही, और वह अविभाज्य है। परिमाण द्वारा, गुण द्वारा, अथवा देश काल के बीच से इसकी धारणा नहीं की जा सकती। परंतु यह चैतन्य निरपेक्ष है, और स्पिनोजा के परम पदार्थ की भांति गुणातीत होने पर भी अद्वैत नहीं है। हरवर्ट की धारणा है कि असंख्य सत्ताओं को लेकर ही यह विश्व संगठित है। परम पदार्थ, परम (Absolute) होने पर भी असंख्य है। ऐसा असम्भव नहीं, क्योंकि ये परम पदार्थ या परम सत्ताएं (Absolute Beings) देश काल के अधीन नहीं है—इसलिये ये एक दूसरे के द्वारा खण्डित नहीं हैं। जिसका आकार है, उसकी सीमा है और वही आपेक्षिक है। परन्तु जिसका आकार नहीं है, वह अनन्त तथा परम है, इसी कारण से हरवर्ट के अनुसार परम पदार्थ असंख्य सत्ता मात्र है। अर्थात् परम होने से ही वह एक होगा, ऐसी बात नहीं है। ये परम सत्ताएं केवल हैं; कहां हैं; कब हैं, किस प्रकार हैं—ये प्रश्न अवान्तर हैं। ये कोरे

अस्तित्व मात्र हैं। ये बहु होकर भी लाइबनिट्स के चेतन-परमाणु (Monads) से भिन्न हैं। चेतन-परमाणु गुण विशिष्ट हैं, उनकी चेतनाशक्ति है, उनका परिवर्तन है, उनकी सम्भावना है। परन्तु हरबर्ट के परम पदार्थ का कोई गुण नहीं है। उनके सम्बन्ध में केवल यह कहा जायगा कि वे हैं। उनका गुण नहीं है, इसलिये वे इन्द्रियग्राह्य भी नहीं हैं। इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हम यह प्रश्न करते हैं कि वस्तु के साथ गुण का क्या सम्बन्ध है। परन्तु हरबर्ट का परम पदार्थ गुणहीन है, इसलिये वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अतएव उनके सम्बन्ध में उक्त प्रश्न अवान्तर है। कार्य-कारण विधि भी उसी कारण से केवल इन्द्रियग्राह्य जगत में ही सम्भव है—क्योंकि वहां एक वस्तु दूसरे पर आश्रित है। हरबर्ट की 'सत्ता' पदार्थ परम और स्वयं-सिद्ध है; इसलिये कार्य-कारण के अधीन नहीं है। परिवर्तन के सम्बन्ध में भी वही बात है। अतएव कार्य-कारण-विधि, परिवर्तन आदि परम पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकते। असंख्य परम पदार्थों के विभिन्न सम्बन्धों से ही उनकी सृष्टि है। परिवर्तन पदार्थ का नहीं होता, केवल सम्बन्धों का होता है।

परन्तु जो परम (Absolute) है, उसमें सम्बन्ध कहां से आया? देश (Space) के घेरे में आने से ही ऐसा सम्भव है। इसलिये हरबर्ट ने कहा कि देश इन्द्रियग्राह्य नहीं बल्कि बुद्धिग्राह्य है। बुद्धिग्राह्य है, इसीलिये एक ही स्थान पर दो पदार्थों का अवस्थान असम्भव नहीं। जड़ नहीं है, सीलिये परम पदार्थ में अन्तर्प्रवेश (Interpenetrability) और पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव है।

चैतन्य भी ऐसी एक सत्ता है। इसका एक मात्र कार्य अपने अस्तित्व को

अक्षुण्ण रखना है। विभिन्न वस्तुओं के संस्पर्श से विभिन्न प्रकार की त्रिया घटित होती है। इसलिये असंख्य प्रत्यक्षों की उत्पत्ति होती है। विभिन्न चेतन-सत्ताओं के सम्बन्धों के फलस्वरूप हमारे मन की उत्पत्ति होती है। इसलिये मानसिक उपलब्धि बाह्य है, वह सत्ता का स्वरूप नही है, वह सम्बन्धजात है। सब सम्बन्धों से मुक्त होने पर, ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध न रहने पर, विचार, अनुभव, इच्छा आदि कुछ न रहेंगे। हरबर्ट के अनुसार मनोजगत के नियम और जड़जगत के नियम एक ही हैं।

ऊपर आलोचित, हरबर्ट के दर्शन में हम देखते हैं कि मन के वाहर परम-पदार्थ को उन्होंने स्वीकार किया है, और असंख्य परम पदार्थों को भी स्वीकार किया है। इसलिये उनके दर्शन में वास्तववाद और अनेकवाद (Realism and Pluralism) दोनों ही हैं। हरबर्ट ने जिस प्रकार दार्शनिक समस्याओं के समाधान की चेष्टा की है, उसमें नाना प्रकार के विरोध सहज ही दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु साधारण ज्ञान की दृष्टि तथा कल्पना को मिश्रित कर हरबर्ट ने एक और बहु की समस्या की जिस रूप में आलोचना की है, वह कृत्रिम है। जगह-जगह अन्तर्दृष्टि का परिचय देने पर भी अधिकांश क्षेत्र में उन्होंने अनुमान का आश्रय लिया है। उनकी सत्ता (Being) गणित की संख्या की भांति प्राणहीन है। इनको इन्द्रियग्राह्य जगत के वाहर निर्लिप्त रखकर भी उन्होंने इनको प्रत्यक्ष जगत में घसीट लाकर व्याख्या करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त शुद्ध सत्ता को असंख्य कर उन्होंने उसके शुद्धत्व को क्षुण्ण किया है।

हेगेलीय दर्शन का प्रभाव

हेगेल की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों में मतभेद दिखलाई पड़ा। परमतत्व और मनुष्य में उसका प्रकाश, इन दोनों में पार्थक्य है या नहीं, ईश्वर के अवतार स्वयं ईसामसीह और मनुष्य में उनका प्रकाश इन दोनों में क्या पार्थक्य है; व्यक्तिगत रूप से मनुष्य अमर है अथवा केवल एक परम सत्ता ही अमर है——इत्यादि नाना प्रकार के प्रश्नों की बुनियाद पर मतभेद की सृष्टि हुई। अर्थात् धर्म और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध को आश्रित कर ही, विभिन्न मतों का उद्भव हुआ। इनमें दो दलों की उत्पत्ति हुई। जो प्रवीण थे और जो ईसाई धर्म और हेगेलीय दर्शन के बीच विरोध नहीं लाना चाहते थे, उनको दक्षिणपन्थी कहा जाता है और परिवर्तन के पक्षपाती इनके विरोधियों को वामपक्षी हेगेलीय कहा जाता है। हेगेलीय दर्शन में मनुष्य-मन के पहिले ही प्रकृति को स्वीकार किया गया है, इसलिये वामपक्षी हेगेलियों के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही उत्पन्न है। जड़वाद और निरीश्वरवाद की ओर ही उनकी स्वाभाविक प्रवणता है।

वामपक्षी हेगेलियों में स्ट्रस (David Friedrich Strauss 1808-1874), फयेरबाक (Ludwig Feuerbach 1804-1872) और मार्क्स (Karl Marx 1818-1883), इन तीन के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। स्ट्रस ने ख्रिष्ट जीवनी लिखकर समाज में एक आन्दोलन की सृष्टि कर दी थी। उनके अनुसार इन्जील में वर्णित अधिकांश घटनाएं पुराण कथा-हैं अथवा अज्ञात रूप में मानव-मन से कविता के आकार में निकल पड़ी हैं। फयेरबाक ने और आगे बढ़कर यह दिखाने की चेष्टा की, कि

धर्म मतों की उत्पत्ति मनोविज्ञान सम्मत है। मनुष्य-मन की आशा, आशंका, अभीप्सा से ही धर्म की उत्पत्ति है। मनुष्य के आकांक्षित आदर्श से ही ईश्वर का जन्म हुआ है। मनुष्य पूर्णरूप से जड़ से ही उत्पन्न है, यह स्वीकार न करते हुए भी, फयेरबाक का झुकाव जड़वाद की ओर ही था।

फयेरबाक के मतवाद से परिचय प्राप्त करने के नाते, मार्क्स हेगेलीय दर्शन से भी परिचित हुए। मार्क्स फयेरबाक से भी अधिक नवीन पन्थी हैं। उन्होंने धर्म (Religion) को मनुष्य के जीवन से एकदम निकाल दिया। क्योंकि उनके अनुसार धर्म मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकता, बल्कि क्षति ही करता है। वर्तमान जीवन को तुच्छ कर, एक काल्पनिक परलोक की सृष्टि कर और अलौकिक प्रभाव को स्वीकार कर धर्म ने मनुष्य को बुद्धिहीन किया है। इस बुद्धिहीनता के फलस्वरूप कुछ मुट्ठी भर धनी औरों का शोषण कर आत्म पोषण करते हैं। धर्म की मादकता में मनुष्य अपनी न्याय-पूर्ण मांगों को भूल बैठा है, और अपने वर्तमान कष्टमय जीवन को भगवान का दान मान कर सन्तुष्ट है। इसका अर्थ यह है कि अधिकांश मनुष्यों की मनोवृत्ति वैज्ञानिक नहीं है, और उनका नैतिक बोध भी जागृत नहीं है। मार्क्स ने हेगेलीय डायालेक्टिक को ग्रहण किया है, लेकिन दूसरे अर्थ में। उनके निकट डायालेक्टिक् चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि जड़ की अभिव्यक्ति (Dialectical Materialism) है। मानव-सभ्यता के इतिहास में जो घटनाएं घटित होती हैं, उनके पीछे कोई अलौकिक शक्ति अथवा चैतन्य का प्रभाव नहीं है। वह केवल भौतिक (Material) तथा अर्थनैतिक (Economic) शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया के फल हैं। दुनिया में एक श्रेणी अपने सुख-सुविधा के लिये अन्यों को वंचित

करती आई है। इस प्रकार सभ्यता के इतिहास में हम पाते हैं दास प्रथा, जमींदारी प्रथा और धनी सम्प्रदाय। डायालेक्टिक् के नियम के अनुसार, इसके बाद आयेगा, श्रमिक सम्प्रदाय द्वारा राष्ट्र का शासन। उसके भी बाद आयेगा श्रेणीहीन समाज (Classless Society)। इस आदर्श समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न होगी, आवश्यकता के अनुसार सबको वस्तुएं प्राप्त होंगी, और सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक कार्य करेगा।

उन्नीसवीं शताब्दि के अधिकांश जर्मन दार्शनिकों ने हेगेल के प्रभाव को स्वीकार किया था। इनमें से कुछ ऐसे थे, जिनकी ख्याति उग्र तथा अभिनव मतवाद के प्रचार के कारण विख्यात नहीं हुई। इनमें से अर्डमान जेलर, कुनो फिशर, श्वेग्लेर, व्हिन्डेलबांड आदि दर्शन के इतिहास लिखकर प्रसिद्ध हुए। इन्होंने हेगेलीय दर्शन से प्रेरणा प्राप्त की थी और जर्मनी की दार्शनिक विचारधारा को अनेक दिशाओं में पुष्ट किया था।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में, कुछ संस्कृत तथा परिवर्तित होकर, हेगेलीय दर्शन ने इंगलैंड और अमेरिका में प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसको कहा जाता है, नव-हेगेलवाद (Neo-Hegelianism)। बीसवीं शताब्दि के दूसरे दशक तक इस धारा का प्राधान्य था। नव-हेगेलियों में एडवर्ड केयर्ड, जॉन केयर्ड, ग्रीन, ब्रैडले, बोसांकेट, जेम्स सेथ तथा प्रिंगल पैटिसन के नाम अंग्रेजों में उल्लेख योग्य हैं। अमरिकनों में हैरिस, मारिस, राएस, पामर तथा क्रेटन के नाम उल्लेख योग्य हैं। कनाडा के जान वाटसन भी नव-हेगेलियों में से एक हैं। जर्मनी के अलावा इटली में नव-हेगेलियों में क्रोचे तथा जेन्टिले (Benedetto Croce, Giovanni Gentile) ने ख्याति प्राप्त की थी।

शोपेनहावर (Arthur Schopenhauer 1788-1860)

[सन् १७८८ ई०में डानजिग नगरमें एक व्यवसायीके घर शोपेनहावर का जन्म हुआ। ५ वर्ष की उम्र में उनके पिता सबको लेकर हामबुर्ग नगर में निवास करने लगे। शोपेनहावर को उनके पिता ने व्यवसाय कार्य की उपयुक्त शिक्षा दी थी। परन्तु सन् १८०५ ई० में, पिता की मृत्यु के बाद शोपेनहावर ने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये गटिनजेन और बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में योगदान किया। शोपेनहावर का जीवन जननी के स्नेह से वञ्चित था। उनकी माता भावप्रवण थी और समसामयिक रोमान्टिक धारा की एक विख्यात उपन्यास लेखिका। स्वामी की मृत्यु के बाद, वह वाइमार नगर में, अपने पुरुष मित्रों के साथ, स्वतन्त्र रूप से रहने लगीं। शोपेनहावर को यह असह्य हुआ, और जननी के साथ उन्होंने सब सम्बन्ध त्याग किया। शोपेनहावर के चरित्र में जो स्पर्श-कातर मन और आत्माभिमान का परिचय मिलता है, वह उनकी माता की ही देन है। सन् १८१३ ई० में शोपेनहावर ने "यथोपयुक्त कारण के चार मूलसूत्र" (The Fourfold Root of the Sufficient Reason) नामक अपने ग्रन्थ का प्रकाशन किया। यह उनके आचार्य उपाधि के लिये गवेषणा का विषय था। सन् १८१८ ई० में उनकी मुख्य रचना "संकल्प और भावरूप में जगत" (The World as Will and Idea) प्रकाशित हुई। इनमें से किसी भी पुस्तक ने काफी दिन तक किसी की दृष्टि आकर्षित नहीं की। इसके दो वर्ष बाद बर्लिन विश्वविद्यालय में उन्होंने योगदान किया और वहां

१२ वर्ष तक वह अध्यापन करते रहे। अध्यापक रूप में भी उनकी कोई ख्याति नहीं हुई। उस समय हेगेल ख्याति की शिखर पर थे। शोपेनहावर ने हेगेल तथा अन्य दार्शनिकों की तीव्र तथा अवज्ञापूर्ण समालोचना करने लगे। अन्त में कुढ़ कर, अध्यापक का काम छोड़ कर वह फ्रांकफोर्ट को चले गये। शेष जीवन उन्होंने वहीं बिताया। फ्रांकफोर्ट चले आने के कुछ समय बाद शोपेनहावर की रचनाओं ने लोगों को आकृष्ट किया। शोपेनहावर दुःख-वादी दार्शनिक हैं। मातृस्नेह से वञ्चित जीवन की शुष्कता, आदर्शभ्रष्टा जननी के व्यवहार से एक तीखापन और उनका अपना उग्र आत्माभिमान—इन तीनों के मिश्रण से दुःखवादिता का उद्भव स्वाभाविक जान पड़ता है। शोपेनहावर ने विवाह नहीं किया। होटल के दो कमरों में उन्होंने अपना निःसंग जीवन बिताया। उनके जीवन के अन्तिम भाग में उनकी रचना को ख्याति मिली, और देश-विदेश से लोग उनके दर्शन को आने लगे। पहिले के दार्शनिक और विचारशील व्यक्तियों ने यूरोप को जिस आशा की वाणी से प्राणवन्त किया था, वह जब मनुष्य के दुःखदारिद्रय और प्राणहीनता से निरर्थक होने लगी, तभी निराशा और दुःखवाद के दर्शन ने मनुष्य के मन को आकृष्ट किया। ७० वीं वर्षगांठ पर विश्व के विभिन्न प्रान्तों से शोपेनहावर की सम्बर्धना की गई। इसके दो वर्ष बाद सन् १८६० ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

काण्ट के दर्शन के कुछ अंश को शोपेनहावर ने मान लिया था। उनके अनुसार जगत मनुष्य-मन की धारणा से ही उत्पन्न है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-गोचर जो जगत है, वह दृश्यमान जगत ज्ञाता की ही सृष्टि है। परन्तु हमारे इस परिचित जगत के पीछे एक जगत है। मानव-मन के संगठन के

के अनुसार वह जगत विकृत होकर इस दृश्यमान जगत में रूपान्तरित हो जाता है। दृश्यमान जगत का अस्तित्व मनुष्य के अनुभव पर निर्भर है। परन्तु वह जगत अनुभव-निरपेक्ष है।

हमारा मन ही हमको बतला देता है कि दृश्यमान जगत के पीछे एक जगत है। इसी को काण्ट ने कहा है, पदार्थ का स्वरूप (thing-in-itself) अथवा शुद्ध पदार्थ। काण्ट ने इस शुद्ध पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु इसको अज्ञेय माना है। मनुष्य को जो ज्ञात है, वह उसके मन का ही सृष्ट दृश्यमान जगत (Phenomenal world) है। शोपेनहावर के मतानुसार यह सत्य है कि ज्ञाता अपने बाहर नहीं जा सकता और पदार्थ के स्वरूप को जान नहीं सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि वहिर्जगत के अस्तित्व को हमें किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य केवल ज्ञाता नहीं है, इसी से ज्ञेय को जान पाता है। मनुष्य एक ही साथ ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है। वह स्वयं ज्ञाता है, परन्तु जगत के विभिन्न पदार्थों में वह भी एक पदार्थ के रूप में ज्ञेय है। ज्ञाता ही ज्ञेय—है,—इससे शोपेनहावर इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए कि ज्ञेय पदार्थ और ज्ञाता का स्वरूप एक ही है। अर्थात् पृथ्वी की विभिन्न वस्तुओं में जो तत्व है, जो इन सब वस्तुओं को जान रहे हैं अथवा जो ज्ञाता है, उनमें भी वही तत्व है।

वह मूलतत्व जो ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में वर्तमान है, उसका स्वरूप क्या है? देकार्ते, स्पिनोजा, लाइबनिट्स और हेगेल आदि के मत में यह है बुद्धि या चैतन्य। लाइबनिट्स के विश्व के सब पदार्थों में चेतना का सन्धान मिला; हेगेल ने इस चैतन्यशक्ति को ही विश्व के मूलतत्व के रूप में ग्रहण

किया। परन्तु शोपेनहावर ने कहा कि यह मूलतत्व बुद्धि या चैतन्य नहीं है, यह है इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति (Will)। चैतन्य या बुद्धि इसी का एक प्रकाश-विशेष है। जो मूलतत्व हम में है, वही तत्व अन्य पदार्थों में भी है। ज्ञाता और ज्ञेय, मनुष्य और उसका वहिर्जगत, इन दोनों का मूल-तत्व है इच्छाशक्ति। इच्छाशक्ति ही मूर्त होकर दृश्यमान जगत के रूप में हमारे निकट प्रकाशित है।

मनुष्य का शरीर उसकी संकल्पशक्ति का ही प्रकाश है। उसकी इच्छा ने ही देह का रूप धारण किया है। यह संकल्पशक्ति बुद्धि के साथ युक्त न होकर शुद्ध-संकल्प के रूप में रहती है और शरीर में प्राणशक्ति के रूप में काम करती है। जब यह बुद्धि के साथ युक्त होती है, तब इसको हम अपनी स्वाधीन इच्छा के रूप में पाते हैं।

हम जानें या न जानें हमारे में इच्छाशक्ति का काम अविराम चल रहा है। शरीर और मन को तो क्लान्ति है, परन्तु इच्छाशक्ति को क्लान्ति नहीं है। सुप्त और स्वप्नावस्था में भी इसका काम चलता रहता है। शरीर के संगठन के पहिले से ही इच्छा वर्तमान है। इच्छा के निर्देश से ही शरीर एक विशेष आकार को प्राप्त करता है, जिससे इच्छाशक्ति का उद्देश्य सफल हो सके। जीव-जन्तुओं के शरीर के संगठन को देखकर हमें यह जान पड़ता है कि उस शरीर संगठन के अनुरूप ही उनकी क्रिया है। अर्थात् उनकी प्रकृति, उनकी आकृति के अनुरूप है। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि क्रिया के उद्देश्य से ही उसका संगठन है। अर्थात् प्रकृति के लिये ही आकृति है। पंख है, इसीलिये पक्षी उड़ सकता है, ऐसा नहीं। पक्षी उड़ना चाहता है, इसीलिये उसके पंख हैं। हमने देखा है कि पंख निकलने के पहिले से ही पक्षी

उड़ने की चेष्टा करता है। क्षुद्र पतंग, अपनी आत्मरक्षा के संकल्प के फल-स्वरूप ही पेड़ के पत्तों के रंग के अनुरूप देह के रंग को प्राप्त करता है। इसलिये सर्वत्र यही मिलेगा कि एक इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में वर्तमान है।

परन्तु मनुष्य के क्षेत्र में इच्छाशक्ति का इस प्रकार सहज प्रकाश नहीं हो सका है। मनुष्य जीवन की जटिलता के कारण उसकी आकांक्षा और उद्देश्य भी जटिल हैं, और इसलिये उसकी आत्मरक्षा में अधिक निपुणता की आवश्यकता है। इसीलिये मनुष्य के क्षेत्र में इच्छाशक्ति या संकल्प (Will) ने आत्म-प्रकाश किया है, बुद्धि के रूप में। इतर प्राणियों के क्षेत्र में जिसका प्रकाश निर्दिष्ट और मुक्त था, मनुष्य के क्षेत्र में वह सूक्ष्म और आत्मगोपन-शील हुआ।

उद्भिज जगत में भी इसी इच्छाशक्ति का प्रकाश है। यह प्रकाश स्पष्ट नहीं है, इसलिये हमारी नजरों में नहीं पड़ता। पेड़ सूर्य के आलोक को चाहता है, इसीलिये उसकी गति ऊद्ध्वं की ओर है; उसके जड़ को रस की आकांक्षा है, इसीलिये वह सरस मिट्टी की ओर दौड़ती है। लता अपने आश्रय को खोज लेती है और अंकुर बीज के बीच से आत्म-प्रकाश करता है। इन तथ्यों से सहज ही में समझा जा सकता है कि जीव-जगत की भांति उद्भिज जगत में भी इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में अपने को प्रकाशित करती है। फर्क यह है कि यह प्रकाश कहीं अज्ञान में हो रहा है, और कहीं सज्ञान में। जड़ पदार्थ में भी इस इच्छाशक्ति का प्रकाश देखा जाता है। प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेष प्रकृति है। कोई पदार्थ मिलना चाहता है, और कोई नहीं। तरल पदार्थ नीचे की ओर जाना चाहता है, धातु पदार्थ शीघ्र गरम होना

चाहता है, शक्कर दाना पकड़ना चाहता है, इत्यादि असंख्य उदाहरण यही प्रमाणित करता है कि जड़ जगत में भी इच्छाशक्ति ही मूलतत्व के रूप में काम करती है। इसलिये हम देखते हैं कि जड़, उद्भिज और जीव में एक इच्छाशक्ति की ही क्रिया हो रही है। यह अस्तित्व मात्र नहीं है। यह विशेष पदार्थ के रूप में निर्दिष्ट अस्तित्व के आकार में प्रकाश प्राप्त करने की इच्छा है। 'होना' इसका स्वरूप नहीं है, इसका स्वरूप है 'होने की इच्छा करना'। इसका स्वरूप देश-काल के बाहर है और हमारे लिये अज्ञेय है। जब यह निर्दिष्ट पदार्थ के रूप में देश-काल के जगत में अपने को व्यक्त करती है, तभी इसको पदार्थ-रूप में हम पहचान पाते हैं।

यह सार्वभौम इच्छाशक्ति जब दृश्यमान जगत के रूप में अपने को व्यक्त करती है, तब वह हमारी धारणाओं के बीच से ही करती है। ये धारणाएं (Ideas) देश-काल-निरपेक्ष तथा शाश्वत हैं। इच्छाशक्ति की निम्न-स्तर की अभिव्यक्ति में जो धारणाएं हैं, वे हैं गुरुत्व, घनत्व, तरलता, आकर्षण-शक्ति आदि। प्राणी जगत में उच्चतर धारणाओं का उद्भव होता है और मनुष्य जगत पर आकर सर्वोच्च स्तर पर इसकी परिसमाप्ति होती है। निम्नस्तर की शक्ति को अतिक्रमण कर ही उच्चस्तर पर उपनीत हुआ जा सकता है, और इस प्रकार स्तर को अतिक्रम करने का युद्ध ही जीवन-युद्ध है।

यह इच्छाशक्ति है निरन्तर आत्मप्रकाश की इच्छा। यह शाश्वत शक्ति ही दृश्यमान जगत के मूल में है। जब तक इच्छाशक्ति रहेगी, तब तक जगत भी रहेगा। विशिष्ट पदार्थों के, जीव के जन्म और मृत्यु हैं, परन्तु इनके मूल में जो इच्छाशक्ति है, वह शाश्वत है। इसलिये शोपेनहावर के अनुसार मृत्यु कोई भयावह दुःख की घटना नहीं है; जन्म की भांति, यह भी विश्व

नियम का एक अंग है । मृत्यु से सार्वभौम इच्छाशक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता है, परिवर्तन होता है केवल वाह्य आवरण में । शोपेनहावर के अनुसार यदि इच्छाशक्ति ही सब जीवन के मूल में है, तो इच्छाशक्ति ही सब दु:खों के मूल में भी है । इसलिये, इसके प्रकाशस्वरूप जिस जगत को हम पाते हैं, वह सर्वश्रेष्ठ जगत नहीं हो सकता । वह एक निकृष्ट जगत है । कवि-कल्पना को हम छोड़ दें तो वास्तव जगत में हम निरंतर जो देखते हैं, वह यह कि परस्पर आक्रमण ही जीव जगत का नियम है । इस जीवन-युद्ध में विजयी के आनंद की तुलना में विजितों की दु:ख-वेदना कहीं अधिक है । मानव-सभ्यता का इतिहास क्रम से मिथ्याचार, कुचक्र, हत्या, युद्ध आदि का इतिहास है । मनुष्य के सद्‌गुणों के मूल में है, अहंकार और आत्मतृप्ति । राज्यों तथा सभ्यताओं के उत्थान और पतन के मूल में है, जीवन को पूर्णरूप से भोग करने का प्रयास । परन्तु जितना ही हम जीवन से चिपटे रहना चाहेंगे, उतना ही हम दु:ख को निमन्त्रण देंगे । क्योंकि जीवन तो दु:ख का ही प्रतीक है । इसके अलावा मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा जीवन को जितने सूक्ष्म स्तरों पर ले जायगा, दु:ख की गहराई भी उतनी ही बढ़ेगी । इसीलिये अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य का दु:ख विराट है ।

शोपेनहावर के अनुसार जीवन का अर्थ ही यदि दु:ख है तो स्थायी सुख की आशा कल्पनामात्र है । सुख नाम की यदि कोई वस्तु है, तो वह दु:ख का अभाव मात्र है । इस सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब इच्छाशक्ति अपनी ही गति के विरुद्ध जाय । इच्छाशक्ति का प्रकाश ही जीवन है और जीवन दु:ख ही है । इसलिये दु:ख से मुक्ति पाने के लिये जीवन की स्वाभाविक गति से अपने को हटा लेना होगा,—निर्लिप्त होना होगा ।

ईसाई और बौद्धधर्म ने इस प्रकार की मुक्ति का सन्देश ही मनुष्य को सुनाया है। इन दोनों धर्मों ने यह दिखाया है कि जीवन को ग्रहण करते हुए ही मनुष्य ने दुःख वरण किया है।

शोपेनहावर ने कहा है कि उनके दर्शन ने जगत के आदि कारण के अनुसंधान की चेष्टा नहीं की है, बल्कि मनुष्य की अनुभूति में से ही तथ्यों का संग्रह और उनका विश्लेषण कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को दिखलाने की चेष्टा की है। अनुभव के बाहर से कुछ आहरण करने की चेष्टा उसने नहीं की है, केवल इन्द्रियानुभूति तथा आत्मचेतना-लब्ध तथ्यों की व्याख्या करने की चेष्टा की है। हमारा अनुभव इस प्रकार क्यों है और अन्य प्रकार क्यों नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास इसमें नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर बुद्धि के द्वारा नहीं दिया जा सकता। बुद्धि को कार्य-कारण पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिये, बुद्धि को उन्हीं तथ्यों के जानने का अधिकार है, जो कार्यकारण विधि के द्वारा नियन्त्रित हैं। कार्यकारण विधि के बाहर के चीजों को जानने का उपाय बुद्धि के लिये नहीं है। जब हम 'क्यों' यह प्रश्न उठाते हैं तो यह भूल जाते हैं कि 'क्यों' का अर्थ है, 'इसका कारण क्या है'। अतएव, 'क्यों' इस प्रश्न के द्वारा हम उस प्रश्न के उत्तर को कार्य-कारण अर्थात् देश, काल और जगत के अन्दर खींच लाते हैं। स्पष्ट है कि जो देश काल के जगत में नहीं है, उसके सम्बन्ध में 'क्यों' यह प्रश्न अवान्तर और अर्थहीन है। अनुभव के बाहर के समाचार जानने की चेष्टा कर मनुष्य की बुद्धि अन्धे की भांति केवल अपने घर की दीवार पर शिर टकराती रहती है। ब्रूनो, स्पिनोजा और शेलिंग की भांति शोपेनहावर ने भी एक ही तत्व को मूलरूप में स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने जो विचार रखा है,

उसमें यह तत्व, अनुभव को लांघकर, अनुमान के द्वारा ईश्वर नामक वस्तु को खींच नहीं लाता। शोपेनहावर के दर्शन का मूलतत्व है इच्छाशक्ति और इसको हम अपने अनुभव में ही पाते हैं। इसलिये उन्होंने अपनी दर्शन-पद्धति को वैज्ञानिक कहा है। क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति के अनुरूप इसकी गति परिचित से अपरिचित की ओर है (Inductive)।

देखा जाय तो एक प्रकार से शोपेनहावर के दर्शन में अनुभववाद विद्यमान है। देर से ही सही, उस समय के जर्मनी ने उनके इस वास्तववाद और भाववाद के सम्मिश्रण को, इसकी नवीनता के कारण, आग्रह से ग्रहण किया था। यह वास्तववादी (Realistic) इसलिये है कि इसमें जड़वाद को स्थान दिया गया है। यह भाववादी (Idealistic) इसलिये है कि दृश्यमान जगत को ही उसने अन्तिम सत्य नहीं माना है। इस पर काण्टीय दर्शन का भी छाप है, क्योंकि यह स्वीकार करता है कि दृश्यमान जगत बुद्धिजात है। शोपेनहावर के दर्शन में यह एक लक्ष्य करने की बात है कि इसमें इस बात का आभास है कि विज्ञान (Science) और अति-विज्ञान (Metapysics) का समन्वय हो सकता है।

पठनीय

शोपेनहावर लिखित :—

The Fourfold Root of the Sufficient Reason
—Translated by Karl Hillebrand.

The World as Will and Idea—3 Vols.
—Translated by R. B. Haldane and John Kemp.

The Basis of Morality--Translated by A. B. Bullock.

Selections--Edited by Parker (Scribners).

सहज-प्रवेशिका :--

Will Durant--The Story of Philosophy.
W. Wallace--Life of Schopenhauer.

आलोचनात्मक :--

William Caldwell--Schopenhauer's System in Its Philosophical Significance.

T. Whittaker--Schopenhauer.

H. Zimmern--Schopenhauer, His Life and Philosophy.

छठां अध्याय

शोपेनहावर के बाद

शोपेनहावर के बाद पाश्चात्य जगत की दार्शनिक विचारधाराएं अनेक शाखाओं में तथा बहु वैचित्र्य के साथ प्रकाशित होने लगीं। पहिले ही कहा जा चुका है कि हेगेलीय दर्शन से दक्षिणपन्थी तथा वामपन्थी दलों का उद्भव हुआ और प्रकृतिवाद (Naturalism) और जड़वाद (Materialism) का जन्म हुआ। दूसरी ओर विज्ञान की कसौटी पर काण्ट के दर्शन को जांचने का प्रयास होने लगा, और इसके परिणामस्वरूप एक दल नवीन-काण्टवाद (Neo Critîcism) का प्रचार करने लगा। इसके अलावा दर्शन में, नये वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप, जगत के मूलतत्व की नई व्याख्या होने लगी। इस जड़वाद और प्रकृतिवाद की दूसरी सीमा पर दक्षिणपन्थी हेगेलवादियों ने ईश्वरवाद (Theism) को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। जर्मनी की भांति फ़्रांस, इटली, इंग्लैंड और अमेरिका में भी दार्शनिक विचारधारा के विभिन्न और विचित्र रूप दिखाई देने लगे। परन्तु सर्वत्र मुख्यरूप से दो विपरीतमुखी विचारधाराओं ने आत्म-प्रकाश किया। एक ओर था प्रकृतिवाद (Naturalism), वह चाहे जड़वाद हो चाहे प्रत्यक्षवाद हो (Positivism), और दूसरी ओर इसकी विरोधी धारा—चाहे वह भाववाद (Idealism) के रूप

में हो चाहे चेतनात्मक वास्तववाद (Spiritualistic Realism) के रूप में।

इन विभिन्न धाराओं के अनेक पृष्ठपोषक दार्शनिकों में से कुछ विशिष्ट दार्शनिकों के मतों की आलोचना नीचे की जा रही है।

कोंत् (Auguste Comte 1798-1857)

[फ्रांस के मान्टपेलिये नगर के एक मध्यम श्रेणी के परिवार में सन् १७९८ ई० में कोंत् का जन्म हुआ। प्रादेशिक विद्यालय के छात्रों में परीक्षा में प्रथम स्थान अधिकार कर वह पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पेरिस के पालिटेकनिकल स्कूल में भर्ती हुए। और वहां उन्होंने गणित तथा विज्ञान का अध्ययन किया। शिक्षक के अशिष्टाचार के विरुद्ध प्रतिवाद करने के कारण वह अपने कुछ मित्रों सहित उक्त स्कूल से निकाले गये। इस प्रकार १८ वर्ष की अवस्था में कोंत् स्वावलम्बी होने को बाध्य हुए, क्योंकि उनके पिता उनका व्यय-भार वहन करने में अक्षम थे। कोंत् के जीवन में कई बार अधिकारियों से विरोध हुआ और इसके परिणामस्वरूप उनको आर्थिक हानि भी हुई। फ्रांस के तत्कालीन विख्यात समाज-सुधारक सेन्ट सीमों (Saint Simon) ने कोंत् की विचारधारा पर प्रभूत प्रभाव डाला था। प्रायः ६ वर्ष वह सेन्ट सीमों के संस्पर्श में थे। इसके बाद उनसे मतभेद होने के कारण उन्होंने सीमों का साथ छोड़ दिया। "समाज-संस्कार के लिये आवश्यक वैज्ञानिक पद्धति की एक योजना" नामक एक प्रबन्ध लिखकर कोंत ने कई प्रख्यात विचारशील व्यक्तियों को भेजा और इसी से उनकी प्रसिद्धि फैल गई। कोंत् का विवाहित जीवन सुखी न था। एक पतिता नारी से उन्होंने विवाह किया था,

परन्तु मानसिक अशान्ति के कारण दो वर्ष बाद ही उन्होंने आत्महत्या करने की चेष्टा की। बाद को वे पृथक् हो गये। इसी बीच उनका मुख्य ग्रन्थ "प्रत्यक्षवादी दर्शन" (Positive Philosophy) पांच खण्डों में प्रकाशित हुआ। इस पर भी किसी शिक्षाकेन्द्र में अध्यापक होने की सुविधा उन्हें न मिली और एक गृह-शिक्षक के कार्य से वह जीविका उपार्जन करने लगे। परन्तु उनकी आर्थिक अवस्था क्रमशः खराब होने लगी। इंग्लैंड के जॉन स्टुअर्ट मिल तथा फ्रांस के अन्य मित्रों ने नियमित अर्थ सहायता से उनकी जीवन यात्रा को कुछ सुगम बना दिया था। इस समय एक विवाहिता नारी के साथ कोंत् का घनिष्ठ परिचय हुआ, परन्तु दोनों की इच्छा होते हुए भी कानूनी दृष्टि से असम्भव होने के कारण उनका विवाह नहीं हो सका। इस महिला की मृत्यु के बाद भी कोंत् सुबह, शाम उसकी याद करते और प्रति सप्ताह उसके समाधिस्थान पर जाते थे। कोंत् के जीवन के इस अध्याय ने उनके अन्तिम दिनों के दार्शनिक मतवाद में एक परिवर्तन ला दिया था। कोंत् का द्वितीय प्रधान ग्रन्थ प्रत्यक्षवादी राजनीति में यह परिवर्तन सहज ही दृष्ट होता है। सन् १८५७ ई० में कोंत् की मृत्यु हुई। वह जिस गृह में रहते थे और जहां छात्र-मित्र-परिवृत होकर वह दर्शन की आलोचना करते थे, प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के लिये वह आज भी एक तीर्थस्थान स्वरूप है।]

कोंत के अनुसार विश्व की व्याख्या करने जाकर मनुष्य का मन क्रमशः तीन स्तरों से होकर चला है। प्रथम स्तर है धर्मशास्त्र का युग (Theological Stage)। यह मनुष्य की विचारधारा की आदि अवस्था है। इस आदि अवस्था के भी तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर पर मनुष्य ख्याल करता

है कि पृथ्वी के सभी पदार्थ जीवित हैं; सबमें प्राण-शक्ति है, कहीं प्रकाशित और कहीं प्रच्छन्न। द्वितीय स्तर पर मनुष्य यह कल्पना कर लेता है कि जगत् में कुछ अदृश्य जीव हैं, जो जागतिक घटनाओं के एक-एक विभाग की परिचालना करते हैं। इसी से अनेक ईश्वरवाद (polytheism) की उत्पत्ति है। इसके बाद के स्तर पर ये सब ईश्वर समन्वित होकर मनुष्य मन के निकट विश्वनियन्ता एक-ईश्वर में रूपान्तरित होता है। इस प्रकार एकेश्वरवाद (Monotheism) का जन्म होता है।

विश्व-व्याख्या के द्वितीय स्तर पर मनुष्य का मन जागतिक घटनाओं को किसी का इच्छाकृत नहीं समझता। प्रकृति तब मानवसृष्ट ईश्वर द्वारा परिचालित नहीं मालूम पड़ती। तब मनुष्य यह विचार करता है कि प्रकृति एक शक्ति या नियम के द्वारा परिचालित होती है। मनुष्य की विचारधारा में यही अतिविज्ञान का स्तर (Metapysical Stage) है। पहिले मनुष्य ने विश्वपरिचालना के सम्बन्ध में जिन देव-देवियों को मान लिया था, अब उनको हटाकर उनके स्थान पर 'आत्मा', 'सत्ता' आदि तत्वों को ग्रहण किया। मनुष्य के मन ने 'पूर्णता', 'पुण्य', 'अनन्त', आदि शब्दों के द्वारा जगत् की घटनाओं की व्याख्या करने की चेष्टा की। परन्तु कोंत के अनुसार इससे वास्तव या सत्य का सन्धान नहीं मिला। ये अमूर्त धारणाएं मात्र हैं; वास्तविक सत्य नहीं, सत्य के आवरण मात्र हैं। अतिविज्ञान के स्तर पर मानवमन ने केवल प्राणहीन शब्दों की ही सृष्टि की है, जीवित सत्य को वह जान नहीं सका है। इस स्तर पर हमने भूल से सत्य के आवरण को ही सत्य का स्वरूप मान लिया है। कोंत के अनुसार मध्ययुग के शेष पर्यन्त मनुष्य के दार्शनिक विचार जगत में इस अतिविज्ञान का ही युग था।

मानव-सभ्यता के आधुनिक युग के आरम्भ में अतिविज्ञान के इस मिथ्या शब्दजाल के विरुद्ध जब अतृप्त मनुष्य के मन ने आन्दोलन शुरू किया, तभी से तृतीय स्तर का आरम्भ है। यही प्रत्यक्षवाद (Positivism) का युग है। प्रत्यक्षवादी युग के आरम्भ के साथ-साथ 'धर्म शास्त्र' और अति विज्ञान का प्रभाव घटने लगा। विज्ञान के नये आविष्कारों के कारण मनुष्य का मन अतीन्द्रिय जगत के रहस्यमय व्यापारों से तृप्त न रहकर प्रत्यक्ष जगत के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने को व्यग्र हुआ।

दर्शन की भांति विज्ञान में भी, एक के बाद एक, तीन स्तर हैं। विज्ञान की क्रमोन्नति के इतिहास में भी हम देखते हैं कि यह क्रमशः जटिल से जटिलतर हुआ है और इसकी व्यापकता घटती गई है। संख्या गणित और बीजगणित सबसे सरल और व्यापक हैं, और ये अन्य किसी विज्ञान पर निर्भर नहीं हैं। इसलिये ये हैं मूलविज्ञान। इसके बाद आई ज्यामिति। इसको संख्या विज्ञान के सत्य पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके बाद आता है गतिविज्ञान, संख्या विज्ञान और ज्यामिति, इन दोनों को आश्रित कर गतिविज्ञान का उद्भव है। परन्तु ये गति विज्ञान पर आश्रित नहीं हैं। पुनः, इन सबको लेकर गणित है। गणित ही सब विज्ञानों का मूलविज्ञान है।

इस प्रकार गणित के बाद ज्योतिष और ज्योतिष के बाद पदार्थ विज्ञान का उद्भव हुआ। इसके बाद आया रसायन और फिर जीवविज्ञान। इन सबके अन्त में हमें मिला है, समाजविज्ञान। १८वीं शताब्दि के योरोपीय विद्रोह के फलस्वरूप ही प्रत्यक्षवादी दर्शन का जन्म हुआ। जन्म तो हुआ, परंतु उस समय वह प्रतिष्ठित नहीं हो पाई थी। राजनीतिक और सामाजिक धारणाएं निर्दिष्ट नियमों के द्वारा नियन्त्रित हैं। इन नियमों की जान-

कारी से इतिहास भी विज्ञान में परिणत होगा। समाज की क्रमोन्नति किसी अतिप्राकृत शक्ति के द्वारा संचालित नहीं है, बल्कि यह निर्दिष्ट नियमों के द्वारा नियन्त्रित है।

जब नीति-विज्ञान (Ethics) इस प्रकार प्रत्यक्षवाद के स्तर पर पहुंचेगा, तो दर्शन भी प्रत्यक्षवादी (Positive Philosophy) होगा। प्रत्यक्षवाद किसी विज्ञान की शाखा नहीं है; यह मनुष्य के समस्त ज्ञान का समन्वय है। विज्ञान से उत्पन्न होने के कारण, यह दर्शन-पद्धति वैज्ञानिक है। इस दर्शन पद्धति की भित्ति इन्द्रियज ज्ञान है, और आगमन-निगमन प्रणाली को इसने ग्रहण किया है। यही यथार्थ दर्शन है, क्योंकि इसकी विषयवस्तु समस्त जगत् है। प्रत्यक्षवादी दर्शन मनुष्य के सब ज्ञानों में समन्वय की चेष्टा करता है। यह विज्ञान में दर्शन की सार्वभौमिकता को लाता है और दर्शन को विज्ञान-सम्मत बनाता है।

कोंत् के अनुसार अतिविज्ञान के युग की पूर्ण समाप्ति होगी। यह विज्ञान-सम्मत न होने के कारण समसामयिक विचारशील व्यक्ति इसको उत्साह के साथ ग्रहण नहीं करते। यह अनुमान के बाद अनुमान की सृष्टि कर चलता है। और किसी निश्चित सिद्धान्त पर उपनीत नहीं हो पाता। इसके मतवाद परस्पर विरोध के कारण क्षयप्राप्त होते हैं। परन्तु विज्ञान में ऐसा नहीं है। इसमें ज्ञान की क्रमोन्नति होती है। इतिहास की परिणति की दृष्टि से अतिविज्ञान में भी जो क्रमोन्नति हुई है, वह निरर्थक नहीं है। उसने धर्म को हटाकर उसके स्थान पर प्रत्यक्षवाद को प्रतिष्ठित किया है। परन्तु अब अतिविज्ञान का कार्य समाप्त हो चुका है। मनुष्य के संस्कृति के इतिहास में यह एक अध्याय होकर रहेगा।

ऊपर कोंत् के दर्शन की जो आलोचना की गई, उससे समझा जा सकता है कि यह वास्तववाद (Realism) और अनुभववाद (Empiricism), इन दोनों का सम्मिश्रण है। अन्त में कोंत् ने कहा है कि विज्ञान मनुष्य की इच्छा का ही प्रकाश है। क्योंकि मनुष्य को केन्द्रित कर ही प्रकृति है। मनुष्य के स्वरूप को जानने पर विश्व के स्वरूप को जाना जा सकता है। इसलिये अन्त की ओर प्रत्यक्षवादी दर्शन में भाववाद का स्पष्ट आभास मिलता है।

पठनीय

कोंत् लिखित :—

Discourse On the Positive Spirit—Translated into English by E. S. Beesly.

Positive Philosophy—Condensed Translation in English by H. Martineau.

Positive Religion—Translated into English by R. Congreve.

सहज-प्रवेशिका :—

H. Hoffding—History of Modern Philosophy Vol. II.

L. Levy-Bruhl—History of Modern Philosophy in France.

आलोचनात्मक :—

J. S. Mill—Auguste Comte and Positivism.

E. Caird—The Social Philosophy of Comte.

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill 1806-1873)

[सन् १८०६ ई० में लन्दन नगरी में जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म हुआ। उनके पिता जेम्स मिल इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध विचारशील लेखक थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक विशिष्ट कर्मचारी ने पुत्र की शिक्षा का भार उन्होंने स्वयं ग्रहण किया। तीन वर्ष की अवस्था में ही जॉन स्टुअर्ट ने ग्रीक भाषा सीखनी आरम्भ की। और प्रायः साथ ही साथ अंग्रेजी और अंकगणित सीखना भी उन्होंने आरम्भ कर दिया। आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने लैटिन भाषा सीखनी आरम्भ की। मिल जो स्वयं सीखते थे वह फिर उनको अपने छोटे भाई-बहनों को सिखाना पड़ता था। इस प्रकार स्वल्पावस्था में ही अनेक भाषाओं पर उन्होंने अधिकार प्राप्त किया और पिछली शताब्दि तथा समसामयिक विचारधारा से वह परिचित हुए। कोंत के प्रत्यक्षवाद (Positivism) और बेन्थम के उपयोगितावाद (Utilitarianism) ने उनको यथेष्ट प्रभावित किया था। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी दर्शन के साथ उनका जिस प्रकार परिचय था, जर्मन दर्शन के साथ उस प्रकार परिचय न था। सम्भवतः उनका मानसिक संगठन इस प्रकार का था कि जर्मन दर्शन उनको आकृष्ट न कर सका। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने एक उपयोगिता समिति (Utilitarian Society) की स्थापना की थी। १७ वर्ष की अवस्था में मिल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नियुक्त हुए। इसके पहिले ही वह कानून का अध्ययन कर चुके थे। सन् १८५८ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्त होने पर उन्होंने भी अवसर

ग्रहण किया। मिल के पिता ने उनको अध्ययन में ऐसा व्याप्त रखा था कि उनके जीवन में खेल-कूद का कोई स्थान न था। इसके अलावा धर्म की शिक्षा भी उन्हें कभी नहीं मिली। मिसेस हैरिअट नाम की एक विधवा से उन्होंने शादी की थी। सन् १८६५ ई० में मिल पार्लियामेंट के सदस्य हुए। ग्लैडस्टोन के उदारपन्थी दल में वह शामिल थे। मिल गम्भीर प्रकृति के, परन्तु हृदयवान व्यक्ति थे। इंग्लैंड में उनकी विचारधारा का गहरा तथा व्यापक प्रभाव था। सन् १८७६ ई० में उनकी मृत्यु हुई।]

सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार का आदर्श ही मिल के विचार का प्रधान विषय था। मानव-सभ्यता की उन्नति के संबंध में अठारहवीं शताब्दि में जिस आशा और उत्साह का संचार हुआ था, मिल ने उनका हृदय से स्वागत किया था। इसके अतिरिक्त उनका दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य चरित्र का संगठन इच्छानुयायी किया जा सकता है। समाज संस्कार के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। किस उपाय का किस प्रकार अवलम्बन से उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है, उसकी जानकारी ही ज्ञान है। परन्तु ज्ञानार्जन के लिये ठीक पद्धति का अनुसरण करना होगा। मिल ने अपनी पुस्तक 'न्यायशास्त्र' (Logic) में इसी ज्ञानार्जन की पद्धति की ही आलोचना की है। जिस पद्धति का अवलम्बन कर विज्ञान उन्नति करता है, अन्य विषयों में भी उस वैज्ञानिक पद्धति को प्रयोग कर देखना उचित है। ज्ञानतत्व के मूल तथ्यों से परिचय न रहने पर ज्ञानार्जन पद्धति की आलोचना सम्भव नहीं। इसलिये मिल ने इस ग्रन्थ में इस विषय की आलोचना की है।

सार्विक और अनिवार्य ज्ञान (Universal and Necessary Knowledge) असम्भव है और कार्यकारण विधि नाम की कोई चीज

अनुसार, हमारे अनुभव के दायरे में यदि इस कार्य-कारण विधि का कोई व्यतिक्रम न हो तो उसे सार्वभौम माना जा सकता है।

पूर्वगामी अनुभववादियों की भांति मिल ने भी स्वीकार किया है कि हमारी धारणाएं अन्त तक संवेदन (Sensation) छोड़ और कुछ नहीं हैं। हम इस संवेदन को ही जानते हैं। इसके पीछे वस्तु का जो स्वरूप है, उसके जानने का कोई उपाय नहीं है। संवेदन ही इन्द्रियग्राह्य है; इसी के बीच से वाह्य जगत से हमारा परिचय है। इसलिये वाह्य जगत हमारे लिये संवेदन का स्थायी उद्गम स्थान मात्र है। वाह्य जगत है,—हमारा यह जो विश्वास है, इसका कारण यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का अनुभव पुनः हमारे इन्द्रियों को होगा,—यह हमारा एक निश्चित विश्वास है। मिल के अनुसार मन भी इस प्रकार अनुभूतियों की समष्टि मात्र है। परन्तु इस मत को वह पूर्णरूप से ग्रहण न कर सके। क्योंकि उन्होंने इसका उल्लेख किया है कि मन केवल अनुभूति का क्रम नहीं है, बल्कि अनुभूति के इस क्रम का ज्ञाता भी है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि समाजसंस्कार के प्रति मिल का अतिशय आग्रह था। उनका विश्वास था कि विज्ञान में जिस पद्धति के प्रयोग से नवीन तथ्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, समाज और राजनीति के क्षेत्र में भी उस पद्धति के प्रयोग से अनुरूप लाभ प्राप्त हो सकता है। नीतिविज्ञान में मिल का विश्वास बेन्थम जैसा ही था कि मनुष्य के कार्यों का विचार उनके फल के द्वारा ही करना होगा। कृत कार्य के फलस्वरूप जिस परिमाण में सुख की वृद्धि होगी, वह कार्य उसी परिमाण में न्यायसंगत है, और जिस परिमाण में दुःख की वृद्धि होगी, वह कार्य उसी परिमाण में अन्याय

है। अर्थात् कृतकार्य के न्याय-अन्याय का मापदंड है, उसके द्वारा सुख अथवा दुःख की वृद्धि । परन्तु यह सुख व्यक्तिगत सुख नहीं है, यह समष्टिगत है। यह समाज के अधिकतम संख्यक लोगों का अधिकतम सुख है । मिल के अनुसार प्रत्येक मनुष्य सुखान्वेषी है, सुख ही उसका काम्य है, और इसी में उसका कल्याण है । इसीलिये व्यक्तिगत कल्याण की समष्टि ही समाजगत कल्याण है । तो भी बेन्थम के मत की अपेक्षा मिल का मत अधिक उन्नत था । बेन्थम के अनुसार हम कर्तव्य का सम्पादन करते हैं, सुख की प्राप्ति के लिये; मिल के अनुसार हम कर्तव्य के नाते ही कर्तव्य करते हैं, सुख की आशा से नहीं। बेन्थम के अनुसार सुख के लिये ही कर्तव्य है, मिल के अनुसार कर्तव्य में ही सुख है, । इसके अलावा बेन्थम ने सुख निर्वाचन के लिये जिस परिमाणवाचक मापदण्ड का निर्देश किया है, मिल ने उसे ग्रहण नहीं किया है । बेन्थम के अनुसार, तुलनात्मकरूप से वही सुख काम्य है, जो तीव्र और स्थायी है । मिल ने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि तीव्रता स्थायित्व आदि स्थान-काल-पात्र पर निर्भर हैं । एक के लिये जो तीव्र है, वह दूसरे के लिये नहीं भी हो सकता है । इसलिये यह कोई सार्वभौम मापदण्ड नहीं हो सकता। मिल ने गुणवाचक मापदण्ड को ही इंगित किया है, यद्यपि इस विषय की विस्तृत आलोचना उन्होंने नहीं की है ।

राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में मिल थे व्यक्तिवादी । शासनतन्त्र मनुष्यों के व्यक्तिगत अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा, इसका वह सहन नहीं कर सकते थे । उनके अनुसार निजी कार्यों में मनुष्य स्वतन्त्र होगा । जिस कार्यों का सम्बन्ध सारे समाज से है, केवल उन्हीं कार्यों पर शासनतन्त्र का नियन्त्रण होना चाहिये । इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा था कि अल्पसंख्यक दल

को भी ग्रहण करना पड़ेगा, नहीं तो वास्तविक लोकतन्त्र Du नहीं ।

Eg ल के अनुसार, यह सत्य है कि धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी Er णा है, वह युक्तिसम्मत नहीं है, परन्तु फिर भी उनकी प्रयोजनीयता E1 ानवता का धर्म अनेक विषयों में श्रेष्ठ होने पर भी, जो अतिप्राकृत E ıpernatural) धर्ममत मानव-सभ्यता के आरम्भ से ही चले आ E, उनकी भी प्रयोजनीयता है । इन धर्म मतों ने मृत्यु के बाद जीवन के न्ध में आशा की वाणी सुनाकर, उसके वर्तमान जीवन के दुःखभार को F करने की शक्ति दी है । उस प्रकार के जगत के सृष्टिकर्त्ता रूपी Hy को युक्तिसिद्ध न मानते हुए भी यह सत्य है कि ईश्वर के प्रति विश्वास Idea को नैतिक जीवनयापन में सहायता प्रदान करता है । जगत के सृ identi रूपी अनन्त ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी जगत के समस्त कल्याण क निदान के रूप में ईश्वर को ग्रहण किया जा सकता है, और इससे मनुष्य का कल्याण ही होता है ।

पठनीय

मिल लिखित :—

Liberty.

Utilitarianism.

Three Essays on Religion.

Representative Government.

A System of Logic.

Auguste Comte and Positi\

An Examination of Sir Will...
Philosophy.

Principles of Political Economy.

सहज-प्रवेशिका—

A. Seth Pringle-Pattison—Philosophical

आलोचनात्मक—

Leslie Stephen—The English Utilitarianism सार

Ernest Albee—A History of English कया है।
Utilitar और स्थ.

E. Halevy—The Philosophical Radicals.

Dualism—द्वैतवाद
Egoestic Morality—अहंवाद
Emotion—भावावेग
Empiricism—अनुभववाद
Essence—सत्ता
Extended Substance—विस्तृत पदार्थ
Highest Good—परम कल्याण
Hypothesis—कल्पितार्थ
Idealism—भाववाद
Identity—ऐकात्म्य
Idols—विकृति
Induction—आगमन
Innate Ideas—सहजात धारणा
Interactionism—क्रिया-प्रतिक्रियावाद
Internal Relation—आन्तरीण सम्बन्ध
Interpenetrability—आन्तर्प्रवेश
Introspection—अन्तर्दर्शन
Intuition—अतिमानस
Judgment—वाक्य
Law of Continuity—निरवच्छिन्नता का नियम
Logical Necessity—युक्ति की अनिवार्यता
Law of Non-contradiction—अविरोध का नियम
Macrocosm—विराट
Materialism—जड़वाद
Materiality—वस्तुत्व
Matter—जड़पदार्थ
Mentalism—मानसवाद
Metaphysics—अतिविज्ञान
Microcosm—अनु
Modes—प्रकार
Monad—चेतन-परमाणु
Monodology—चेतन-परमाणुवा
Monotheism—एक-ईश्वरवाद
Moral Sense—नैतिक बोध
Naturalism—प्रकृतिवाद
Necessity—अनिवार्यता
Noumenal World—इन्द्रियातीत जगत
Objective—वस्तुगत
Observation—पर्यवेक्षण
Pantheism—सर्वेश्वरवाद
Parallelism—समान्तरवाद

Parallogism—भ्रमात्मक सिद्धान्त
Passivity—जाड्य
Perception—प्रत्यक्ष
Perceptual Content—प्रत्यक्ष का विषय
Phenomenal World—इन्द्रियग्राह्य जगत्
Pluralism—अनेकवाद
Polytheism—अनेक ईश्वरवाद
Positivism—प्रत्यक्षवाद
Power of Perception—ईक्षण-शक्ति
Practical Ego—संकल्पवाचक आत्मा
Practical Reason—नैतिक बुद्धि
Pre-established Harmony—पूर्वस्थापित छन्द
Primary Qualities—मूल गुण
Primitive Will—आदिम संकल्प
Pure Thing—शुद्ध पदार्थ
Rationalism—बुद्धिवाद
Realism—वास्तववाद
Reflex Action—परावर्तक क्रिया
Secondary Qualities—उपगुण
Self-conscious—आत्म-सचेतन
Self-evident Truth—स्वत:सिद्ध सत्य
Sensation—संवेदन
Sensibility—संवेदनग्राहिता
Simple Ideas—मौलिक धारणा
Solidity—घनत्व
Spiritual—आध्यात्मिक
Subjective—आत्मगत
Substratum—आधार
Succession—पर्यायक्रम
Supernatural—अतिप्राकृत
Synthetic Judgment—संयोजक वाक्य
Synthetic Principle—समन्वयी शक्ति
Teleology—उद्देश्यवाद
Theology—धर्मशास्त्र
Theoretical Ego—ज्ञानवाचक आत्मा
Thesis—वाद
Thing-in-itself—पदार्थ-स्वरूप
Transcendental—अनुभव-निरपेक्ष
Ultimate entity—परम पदार्थ
Understanding—बुद्धि
Universal—सार्विक, सार्वभौमिक
Utilitarianism—उपयोगितावाद